मंथन

अन्तर्गत

भारतीय इतिहास और इतिहासकारों की कुछ समस्याएं

भारत में अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था का औचित्य ?

प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया

जातीयता और जातिवाद— महाभारत के सन्दर्भ में

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन

आदि-आदि....

दीनदयाल शोध संस्थान की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष २ अंक ३ माघ विक्रमाब्द २०३६ (जनवरी १९८०)

हमारे अन्य प्रकाशन

1.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति-दर्शन सं0 कमलकिशोर गोयनका		12.00
2.	तत्त्वविज्ञान (भारतीय तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञानः तुलनात्मक अध्ययन) डा0 हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल		12.00
3.	गांधी, लोहिया और दीनदयाल सं0 डा0 हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल		20.00
4.	एकात्म-दर्शन : पं0 दीनदयाल उपाध्याय, श्री गुरुजी और ठेंगड़ी जी		12.00
5.	हटाओ एमरजेंसी सं0 डा0 एन0 एम0 घटाटे		1.50
6.	पं0 दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्तित्व एवं जीवन-दर्शन डा0 हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल		1.50
7.	**Industrial India : A Blueprint for Tomorrow** G.M. Laud (Ed.)		50.00
8.	**Indo-Soviet Treaty : Reactions and Reflections** Dr. N.M. Ghatate (Ed.)		15.00
9.	**Pt. Deendayal Upadhyaya : A Profile** Sudhakar Raje (Ed.)		12.00
10.	**Peoples' Participation** K.K. Das (Ex-Chief Secretary, U.P. Govt.)		2.00
11.	**Sri Aurobindo's Message for Today** Prize Winning Essays		3.50
12.	**Land Reforms : An Economist's Approach** Dr. S. Swamy		2.00
13.	**Destination — Nation's Tribute to Pandit Deendayal Upadhyaya** Sudhakar Raje (Ed.)		20.00
14.	**Gandhi, Lohia & Deendayal** P. Parameswaran (Ed.)		10.00
15.	**The Integral Approach** Pt. Deendayal Upadhyaya, Guruji & D.B. Thengdi	Paperback Deluxe	5.00 12.00
16.	**The Indian Spirit** M.P. Pandit		12.00

दीनदयाल शोध संस्थान

७-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

मंथन

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली का त्रैमासिक पत्र

वर्ष २ अंक ३ माघ विक्रमाब्द २०३६ (जनवरी १९८०)

निर्मन्थध्वमतन्द्रिताः (श्रीमद्भागवत ८-६-२३)
निरालस्य होकर मंथन करो

विषयानुक्रमणिका

जनतन्त्र, स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन ५

भारतीय इतिहास और इतिहासकारों की कुछ समस्याएं — डा० शशांकशेखर ८

दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति और विचार — डा० मुरलीमनोहर जोशी १५

भारत में अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था का औचित्य ? — डा० बाबूलाल फड़िया २२

प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया — देवीप्रसाद सिंह २९

जातीयता और जातिवाद— महाभारत के सन्दर्भ में — सत्यपाल शर्मा ३४

श्रद्धा और भारतीय दर्शन — डा० जगदीश्वरप्रसाद ४६

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन — ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद ५०

शिक्षक और . ..ा : श्री मोरारजी देसाई से एक भेंट — डा० रमानाथ त्रिपाठी ५९

बच्चे की शिक्षा : माता-पिता का योगदान — डा० मदनलाल ६३

पुस्तक-समीक्षा ७०

सम्पादकीय परामर्श-परिषद्

डा० वी० एम० दाण्डेकर
डा० आर० आर० दिवाकर
डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी
डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा
डा० शिशिरकुमार घोष
श्री जैनेन्द्रकुमार
डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
डा० आत्माराम
प्रो० खालिक अहमद निजामी
डा० दामोदरप्रसाद सिंहल
श्री दत्तोपन्त ठेंगड़ी
प्रो० के० आर० श्रीनिवास आयंगर
डा० एस० भगवन्तम

सम्पादक

श्री पी० परमेश्वरन	सम्पादक
डा० हरिश्चन्द्र बथ्वाल	संयुक्त सम्पादक

कार्यालय

दीनदयाल शोध संस्थान
७ ई, स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

शुल्क

एक प्रति	रु० ५-००
वार्षिक :	
भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, श्रीलंका	रु० २०-००
एशिया, अफ्रीका एवं यूरोप (वायु-मार्ग से)	£ ७-००
अमेरिका, कनाडा और द० अमेरिका (वायु-मार्ग से)	$ १३-००

'राष्ट्र' और 'राज्य' दो अलग-अलग सत्ताएं हैं। बहुत से लोग इस अन्तर को नहीं समझ पाते। वे राज्य और राष्ट्र को एक ही समझ कर चलते हैं और वैसा ही प्रयोग करते हैं। राज्य के लिये राष्ट्र है या राष्ट्र के लिये राज्य? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर पाना है तो हमें इन दोनों के महत्त्व को समझना होगा।

राष्ट्र एक जीवमान इकाई है। शताब्दियों लम्बे काल-खण्ड में इसका विकास होता है। किसी निश्चित भू-भाग में निवास करने वाला मानव-समुदाय जब उस भूमि के साथ तादात्म्य का अनुभव करने लगता है, जीवन के विशिष्ट गुणों को आचरित करता हुआ समान परम्परा और महत्वाकांक्षाओं से युक्त होता है, सुख-दुःख की समान स्मृतियाँ और शत्रु-मित्र की समान अनुभूतियाँ प्राप्त कर परस्पर हित-सम्बन्धों में ग्रथित होता है, संगठित होकर अपने श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की स्थापना के लिये सचेष्ट होता है और इस परम्परा का निर्वाह करने वाले तथा उसे अधिकाधिक तेजस्वी बनाने के लिये महान् तप, त्याग, परिश्रम करने वाले महापुरुषों की शृंखला निर्मित होती है, तब पृथ्वी के अन्य मानव-समुदायों से भिन्न एक सांस्कृतिक जीवन प्रकट होता है। इस भावात्मक स्वरूप को ही राष्ट्र कहा जाता है। जब तक यह राष्ट्रीय अस्मिता बनी रहती है, राष्ट्र जीवित रहता है। इसके क्षीण होने से राष्ट्र क्षीण होता है और नष्ट होने से राष्ट्र नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार 'राष्ट्र' एक स्थायी सत्य है। राष्ट्र की कुछ आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये 'राज्य' पैदा होता है। राज्य की उत्पत्ति के दो कारण बताये जाते हैं, अर्थात् राज्य की आवश्यकता दो स्थितियों में होती है। पहली आवश्यकता तब होती है जब राष्ट्र के लोगों में कोई विकृति आ जाय। उसके कारण उत्पन्न समस्याओं का नियमन करने के लिये राज्य उपस्थित किया जाता है। उदाहरण के लिये किसी मोहल्ले में यदि कोई झगड़ा न हो और न ही ऐसी कोई सम्भावना हो तो पुलिस कहीं दिखाई नहीं पड़ती, किन्तु यदि झगड़ा हो जाये तो झट पुलिस को बुलाया जाता है। दूसरी आवश्यकता तब पड़ती है जब समाज में कोई जटिलता आ उपस्थित हुई हो; सार्वजनिक जीवन में व्यवस्था-निर्माण करना आवश्यक हो। निर्बलता, असहायता और दरिद्रता का लाभ शक्तिशाली, सम्पन्न और साधन-युक्त वर्ग न उठा सके, सब न्याय की सीमाओं में बंधे चल सकें, इसके लिये राज्य का निर्माण किया जाता है। वास्तव में इन दो कारणों से ही राज्य उत्पन्न होता है। समाज में आयी हुई विकृति का नियमन करने के लिये विकृत व्यक्तियों को दण्डित करना अर्थात् शांति स्थापित करना और समाज में आयी हुई जटिलता को सुलझा कर प्रत्येक व्यक्ति के लिये न्यायपूर्ण, सम्मानित जीवन सुकर बना देना अर्थात् सुव्यवस्था करना ही राज्य के कार्य माने गये हैं। इन्हीं दो कार्यों की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण अंग एक तीसरा कार्य भी राज्य का है—विश्व के अन्य राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करना तथा बाह्य आक्रमण से रक्षा करना। इसके लिये राज्य राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करता है। उदाहरणार्थ—जिसे हम संयुक्त राष्ट्रसंघ कहते हैं, वास्तव में वह राष्ट्रों का संघ नहीं, राज्यों का संघ है। राष्ट्रों के प्रतिनिधि के रूप में वहाँ राज्य उपस्थित हैं। किन्तु यदि राज्य में विकृति आ जाय अथवा वह अपने दायित्व को निभाने में असमर्थ सिद्ध हो तो राष्ट्र ऐसे राज्य को बदल डालता है। साधारण अर्थ में कहते हैं कि अमुक देश में सरकार बदल गयी। जिसे हम प्रजातन्त्र कहते हैं, वह भी राज्य को उपयोगी बनाये रखने और आवश्यकता पड़ने पर उसे बदल डालने की प्रक्रिया का ही नाम है। राज्य बदला जा सकता है, किन्तु कोई भी प्रजातन्त्र राष्ट्र को नहीं बदल सकता। राष्ट्र का अस्तित्व बहुमत और अल्पमत पर आधारित नहीं रहता। राष्ट्र की एक स्वयंभू सत्ता है। वह स्वयं प्रकट होती है और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक—सभी क्षेत्रों में विभिन्न इकाइयों की स्थापना करती है। ये विभिन्न इकाइयाँ, जिनमें राज्य भी एक है, परस्पर अनुकूल होकर कार्य करें और राष्ट्र की शक्ति को सुदृढ़ करने के लिये अधिक प्रयत्नशील हों, इसके लिये आवश्यक होता है कि राष्ट्र को सदैव जाग्रत रखा जाय।

—दीनदयाल उपाध्याय

जनतन्त्र, स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन

जनतन्त्र स्वतन्त्रता और आत्मानुशासन का पर्व है। इसमें व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक उत्तरदायित्व—दोनों का संगम है। अपनी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हम देखते हैं कि व्यक्ति की शिक्षा माता, पिता और गुरु के प्रति पूर्ण आज्ञाकारी बनने की प्रेरणा से प्रारम्भ होती है, फिर वह धीमान्, श्रीमान्, ऊर्जस्वी, यशस्वी बनने की योग्यता प्रदान करके 'सर्वभूत-हितेरत:' होना सिखाती है तथा अन्ततोगत्वा संसार के सभी बन्धनों से आत्यन्तिकी मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन करने में शिक्षा का पर्यवसान होता है। 'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या वही है जो मुक्ति के लिये हो। लक्ष्य परम स्वतन्त्रता है, पर उस योग्य बनने का आरम्भ श्रद्धापूरित अनुशासन से होता है। इस प्रकार परम्परा से, पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा लक्ष्य रहा है और स्वयंस्वीकृत मर्यादाओं का अनुपालन हमारी वृत्ति। यह आदर्श मात्र आध्यात्मिक नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों के लिये है।

परन्तु, लगभग एक सहस्र वर्ष की पराधीनता से भारत में जन-साधारण की स्वातन्त्र्य-चेतना का बहुत ह्रास हुआ। बीच-बीच में कुछ महापुरुषों के प्रयत्नों के फल-स्वरूप आध्यात्मिक-सांस्कृतिक क्षेत्र में तो कुछ न कुछ चेतना बनी रही, किन्तु जीवन के अन्य क्षेत्रों में, जैसे—राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये, यदा-कदा प्रस्फुटित प्रयत्न स्थानीय, प्रादेशिक या वर्गविशेष की सीमाओं से आगे नहीं बढ़ पाये; उनके लिये व्यापक जन-समर्थन और संगठनात्मक विस्तार नहीं जुटाया जा सका। विश्व-राजनीति में जनतन्त्र के उदय के बाद, मुक्ति या परम स्वतन्त्रता को मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानने वाले भारत की सांस्कृतिक चेतना को भी राजनीतिक पुनर्जागरण का मार्ग प्रशस्त करने में सुविधा हुई और गत शताब्दी में जन्मे हमारे राष्ट्रीय नेता जन-मन में फिर से यह विचार उत्कटता से जगाने में सफल हुए कि मनुष्य होने के कारण स्वतन्त्र होना हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। इस प्रकार स्वातन्त्र्येच्छा के साथ लगभग आधी शताब्दी तक आन्दोलन और संघर्ष करने के बाद देश स्वतन्त्र हुआ।

स्वाधीनता-प्राप्ति की इस प्रक्रिया में भी कुछ लोग ऐसे

रह गये, जिनमें स्वातन्त्र्य-चेतना जाग्रत नहीं हो पायी; वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को असम्भव या अनावश्यक मानते रहे या अपने तात्कालिक स्वार्थों में ही लिप्त रहकर राष्ट्रहित की उपेक्षा करते रहे। ऐसे लोगों को स्वतन्त्रता अनायास ही मिली, अतः राष्ट्रीय चरित्र या सामाजिक मूल्यों संबंधी उत्तरदायित्व की भावना उनमें नहीं आयी। पराधीनता समाप्त होने के साथ ही राष्ट्रीय जागरण की प्रक्रिया बहुत मन्द या अवरुद्ध हो जाने से स्वार्थी वृत्ति संक्रामक बन गयी और यह रोग स्वतन्त्र भारत के समाज को ग्रसता चला गया। आज लोग राष्ट्रीय चरित्र की न्यूनता और भ्रष्टाचार बढ़ने की बात तो करते हैं, परन्तु कर्तव्य और सदाचार का पालन वे प्रायः दूसरों से करवाना चाहते हैं, स्वयं नैतिकता का परिचय देकर हानि में रहने के लिये तैयार होने वाले कम हैं। इस प्रकार स्वतन्त्रता स्वार्थकेन्द्रित होकर अपनी सार्थकता खोने लगी है। 'स्व' भावना या आत्मीयता का विस्तार न होकर उल्टे वह संकुचित होती जा रही है। कहीं व्यक्ति-व्यक्ति के स्वार्थ टकराकर सम्पूर्ण स्वतंत्रता को ही खंडित कर रहे हैं तो कहीं अपनी नाक ऊँची रखने के लिये एक व्यक्ति दूसरे की सांसें रोक रहा है। स्वतंत्रता का मूल्य जिन्होंने नहीं समझा, वे उसे चुकाने के लिये क्यों तैयार होंगे ?

दूसरी ओर, कुछ लोग विदेशी शासकों के विरुद्ध आधी शताब्दी तक विकसित किये गये आन्दोलनकारी स्वभाव को स्वराज्य के बाद भी नहीं छोड़ सके। एक नवस्वतन्त्र देश में वांछित सृजनात्मक अनुशासन उन्हें रास नहीं आता। स्वतंत्रता उनके लिये उच्छृंखलता बन गयी। सबके विरुद्ध विप्लव उन्होंने अपना अधिकार माना है।

जनतंत्र की सफलता के लिये प्रत्येक व्यक्ति की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा के साथ-साथ यह भी उतना ही आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने को अनुशासित करे। व्यक्ति की स्वतन्त्रता जनतन्त्र का सार है, परन्तु उसमें स्वतन्त्र होने की पात्रता आत्मानुशासन से आती है। जनतन्त्र सबके समानाधिकार की व्यवस्था है, अतः सबके हित की रक्षा करना भी प्रत्येक का कर्तव्य है। वस्तुतः स्वतन्त्रता आत्मिक प्रत्यय है, भौतिकता से उसे जोड़ना भूल है। जड़ वस्तु कभी स्वतन्त्र हो ही नहीं सकती, उसे तो प्रकृति के नियमों के अधीन ही व्यवहार करना है। अतः भौतिकवादी दृष्टिकोण और स्वतंत्रता की इच्छा में ही परस्पर विरोध है। स्वतन्त्र रहने की इच्छा वाला अमूर्त आत्मा है, भौतिक शरीर नहीं, अतः चेतनमात्र में आत्मा का ही विस्तार देखकर, अर्थात् स्वयं को सब प्राणियों में और सब प्राणियों को अपने में देखकर ही सर्वगत स्वतन्त्रता का आदर किया जा सकता है। व्यावहारिक मानव-संस्कृति का विकास न तो स्वतन्त्रता और अनुशासन के सामंजस्य के बिना संभव है और न ही एक सुसंस्कृत समाज में यह सामंजस्य असंभव है।

मनुष्य को आत्मानुशासन सिखाने का कार्य सुसंस्कृत सामाजिक संस्थाओं का है, जहाँ वह नैतिक अनुशासन का सम्मान करना सीख सके। परन्तु यह संस्थागत अनुशासन अचल नहीं होना चाहिए। जैसे-जैसे व्यक्ति आत्मानुशासन के एक विश्वसनीय स्तर की ओर बढ़ता है, उसी के अनुरूप उसे बाह्य अनुशासन से धीरे-धीरे मुक्त किया जाना भी आवश्यक है। आत्मानुशासन का एक ऐसा शिखर अवश्य होना चाहिए, जिसके बाद किसी भी प्रकार के बाह्य अनुशासन की आवश्यकता न रह जाये, जैसे ईश्वर-प्रणिधान का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति है, जब उपासक स्वयं ही तदाकार होकर अनन्त-विश्वरूप हो जाता है।

प्रजातन्त्र का अन्तिम लक्ष्य प्रजाओं की पूर्ण स्वतन्त्रता है, जिसमें न राज्य हो, न कोई शासक; न दण्ड हो, न दण्डाधिकारी; वरन् सब प्रजाएँ धर्म से एक दूसरे की रक्षा करें। आनुवंशिक राजा के शासन का स्थान चुने हुए प्रतिनिधियों की संसद् द्वारा लिया जाना प्रजाओं के स्वतन्त्र होने की दिशा में प्रथम पग है, अन्तिम गन्तव्य नहीं। जिस तन्त्र में राष्ट्रीय स्तर पर चुने हुए प्रतिनिधि तक दलीय अनुशासन के नाम पर सचेतक के अंकुश में रखे जाते हों और अंकुश का केन्द्र दुर्बल पड़ते ही वे अपनी मूलभूत निष्ठा को भी क्रय-विक्रय की वस्तु बना सकते हों, वहां प्रजाओं की स्वतंत्रता का समुचित सम्मान होने की आशा कैसे की जा सकती है ? क्यों न जनतन्त्र अधिक उत्तरदायी बने ? क्यों न संसद् में सचेतकों की

व्यवस्था समाप्त करके आत्मानुशासन का विकास हो ?

देश की वर्तमान राजनीति में दलीय सीमाओं की यह तरलता, जिसमें कोई भी राजनीतिज्ञ कभी भी एक दल छोड़कर दूसरे दल में सम्मिलित हो सकता है तथा किन्हीं भी दलों का गटबन्धन और कैसी ही विचारधारा वालों का 'ध्रुवीकरण' हो सकता है, यह सिद्ध करती है कि यहाँ दलीय विभेद अवास्तविक और कृत्रिम है। तो फिर क्यों न इस मिथ्या विभेद को यथासम्भव कम कर राष्ट्रहित के कार्यों में मिथ्या पक्षधरता या विरोध के स्थान पर सामान्य सहमति का सिद्धान्त अपनायें ?

—हरिश्चन्द्र बर्थ्वाल

□

हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त हो जाने पर, चन्द्रमा के अस्त हो जाने पर, अग्नि के शान्त हो जाने पर और वाक् के भी शान्त हो जाने पर यह पुरुष किस ज्योति वाला होता है ?

आत्मा ही इसकी ज्योति होता है। यह आत्मज्योति द्वारा ही स्थित होता, विचरण करता, कर्म करता और लौट आता है।

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

चित्त ही जगत् का कर्त्ता है। वह जैसा-जैसा संकल्प करता है, उसी के अनुसार उसे जगत् में सत्, असत् या सदसत् की प्राप्ति होती है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं, जो शुभ कर्म और शुद्ध पुरुषार्थ द्वारा लोगों को प्राप्त न हो सके।

(योगवाशिष्ठ)

डा० शशांकशेखर

भारतीय इतिहास और इतिहासकारों की समस्याएं

भारतीय इतिहास की जो अपनी स्वयं की समस्याएं हैं, वे तो हैं ही, उनसे अधिक बड़ी समस्या रही है भारतीय इतिहास-लेखन की; अर्थात् उस दृष्टिकोण की, जिससे यह इतिहास लिखा जाता रहा है और लिखा जा रहा है। हम जानते हैं कि ऐतिहासिक तथ्य प्राय: अपने में मूक होते हैं; वे तो वाणी पाते हैं इतिहासकार की लेखनी से। हर घटी घटना के पीछे उस समय के लोगों की क्या प्रतिक्रिया थी, घटना-चक्र में फंसे हुए लोगों की घटना के घटित होने के पहले और बाद की क्या प्रतिक्रिया थी और उस घटना का तत्कालीन समाज के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक जीवन पर ही नहीं, उसकी भविष्य की सर्वस्व-चेतना पर क्या प्रभाव पड़ा, यह तो इतिहासकार की लेखनी से ही निकलता है। यह यदि न निकले तो इतिहास-लेखन बनिये का रोज-नामचा या बही-खाता बन कर रह जाय। इतिहासकार न तो द्रष्टा ही बने और न समाज को एक नयी दिशा ही दे पाये। किंतु तुरंत एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या यह पर्याप्त नहीं है कि 'इतिहास बस इतिहास के लिये ही हो', अर्थात् इतिहासकार केवल घटनाओं के तथ्यों को ही निकालने का काम करे, यह उसके अधिकार-क्षेत्र के बाहर की बात है कि वह द्रष्टा बने या उसके लेखन से समाज को नयी दिशा मिले।

पिछले दो सौ वर्षों से विश्व के इतिहासकारों और समाज-शास्त्रियों के बीच इस प्रश्न को लेकर बड़ा विवाद खड़ा हुआ है। विवाद ऐसा है कि इतिहासकार समाजशास्त्री को कहता है कि वर्षों की तपस्या के बाद तो हम कुछ घटनाओं और उनके पीछे छिपे हुए तथ्यों को सामने ला पाते हैं, किन्तु मिनटों में समाजशास्त्री उस पकी-पकायी खीर को खा लेता है। ठीक से खाये तो वह भी ठीक, पर खाते समय वह जो छंटनी करने लगता है (Pick and choose), वह इतिहासकार के प्रति ही अन्याय नहीं है, इतिहास के प्रति भी अन्याय है। और सच बात तो यह है कि इतिहासकार भले ही कुछ भी क्यों न करे और कहे, समाजशास्त्री तो छंटनी करने वाला ही है। इसलिये नहीं कि वह क्षीर-नीर विवेकी होता है। वही यदि वह हो जाय तो क्या कहना, फिर तो वह इतिहासकार से बड़ा सत्य-शोधक हो जाय, किन्तु यह छंटनी तो वह पूर्वाग्रहों से ग्रसित होकर करता है। परन्तु इसमें उसका दोष

ही है। दोष इसलिये नहीं है कि यह तो आज उसके शास्त्र की मूलभूत कल्पना ही हो गयी है। इसका भी एक कारण है। धीरे-धीरे समाजशास्त्री अपने सही कर्म से हटकर समाज-सुधारक बन बैठा है। कम से कम उसके होने का दावा तो करता ही है। यहीं तक भी होता तो चलो गनीमत थी। वह तो राजनीतिक नेता बन गया है। सत्ता की राजनीति का नेता। यह उसका विश्वास हो गया है कि कोरे सिद्धान्तों से समाज में परिवर्तन नहीं आ सकता, कम से कम उस मन्द गति की प्रक्रिया से उसके अपने जीवनकाल में तो बदल आने से रहा, और जो परिवर्तन उसके जीवन-काल में नहीं आ सकता. उससे 'उसे' क्या लाभ ?

यहीं एक चालाक समाजशास्त्री 'विकास' (evolution) के स्थान पर 'क्रांति' (Revolution) की बात ले आता है। क्रांति फटाफट में विश्वास करती है। हर प्रश्न का तुरन्त हल चाहती है। 'तुरन्त' तो तभी होता है, जब शीघ्रता से सब कुछ उलट-पलट कर दिया जाय; छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। "जब पुराना भवन पूरी तरह से टूटेगा ही नहीं तो नया बनेगा कैसे ?" वह तर्क प्रस्तुत करता है क्योंकि पुराने भवन में उसे अच्छाई दृष्टिगोचर नहीं होती। नये में नयेपन की उत्सुकता का ही सबसे बड़ा मोह होता है, वह कितना उपादेय होगा, यह वह स्वयं तो समझ पाता नहीं, कहता है "कर के देखो"।

यहीं मार्क्स की उत्पत्ति हुई थी। यहीं इतिहासकार समाजशास्त्री से लड़ बैठा था। यहीं ऐंगल्स ने अल्जीरियाई संस्कृति को कोसा। यहीं मार्क्स ने जी भरकर भारत की संस्कृति को गाली दी। यहीं समाजशास्त्री जीत गया और इतिहासकार हार गया। किंतु कितनी देर के लिये ? यह तो भविष्य ही बतायेगा।

यह तो उदाहरण है एक ऐसे चालाक समाजशास्त्री का, जिसने इतिहास का 'उपयोग' किया अपनी क्रांति के पैगाम को 'ऐतिहासिक सत्यता की भद्रता' (respectability of historical truth) पहनाने में। ऐसे भी उदाहरण हैं जिन्होंने समाज के विकासशील (evolutionary) सिद्धान्त के आधार पर जिस समाज-रचना की कल्पना की, उसे भी 'ऐतिहासिक सत्यता की भद्रता' का जामा पहनाया। यहीं पंडित, पादरी और मुल्ला इतिहासकारों का जन्म होता पाया गया है, जो बदल या परिवर्तन की बात तो करते हैं, किन्तु बदल लाने से कतराते हैं, क्योंकि उसमें उनकी व्यक्तिगत सुविधाओं का ह्रास होता है।

स्पष्ट है, इतिहासकार और समाजशास्त्री का यह जो दूरगामी झगड़ा है (history used as an instrument of change and history used as the justification for status quo), उसकी लपेट में भारतीय इतिहास-लेखन भी आ गया है। मेरी दृष्टि में आज यही उसकी एक सबसे बड़ी समस्या बन गयी है। जो इतिहासकार समाजशास्त्री, समाज-सुधारक और राजनीतिक नेता बन जाता है और सौभाग्य या दुर्भाग्य से बड़ा पद भी पा लेता है, वह सब कुछ कर सकता है, बस अच्छा इतिहासकार नहीं बन सकता। यहीं जो इतिहास 'इतिहास' के लिये लिखते हैं, वे उनसे अधिक आदर पाते हैं जो इतिहास किसी 'वाद' के पोषण के लिये लिखते हैं।

यदि इतिहास 'इतिहास' के लिये है, आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन का उपकरण मात्र नहीं है और वह इतिहासकार के द्वारा ही लिखा जाना चाहिए तथा इतिहासकार 'इतिहास' को केवल घटनाओं का रोजनामचा या बही-खाता बनाकर नहीं छोड़ सकता तो प्रश्न उठता है कि आज भारत के इतिहास के लिये इतिहासकार क्या करे ?

इसके पहले कि इस विषय पर अपने विचार रखूं मैं प्राचीन भारत की कुछ समस्याओं की बात करूंगा, क्योंकि वह क्या करे यह तो इसमें से ही निकलेगा।

× × ×

प्राचीन भारत के इतिहास की पहली सबसे बडी समस्या है वैदिक आर्यों के आदि प्रदेश की। इस विषय पर इतिहासकार कई खण्डों में विभाजित हैं। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि इस विषय पर जिस तरह

से विचार होना चाहिए था, वह कभी हुआ नहीं, जबकि विचार होना चाहिए था कई विषयों की (Inter-disciplinary) सम्मिलित जानकारी के आधार पर अपनी पूरी सम्पूर्णता में, पर अब तक अधिकतर विचार हुए हैं एक-एक विषय के तथ्यों के आधार पर अलग-अलग ढंग से। अतः जब भी कोई चित्र उभरा, वह एकांगी होकर रह गया। यही नहीं, वह दूसरे विषय के विशेषज्ञ द्वारा कड़ी आलोचना का विषय भी बन गया। इस बात को, जो अपने में बहुत विशद है और पूर्णतः एक लेख में नहीं आ सकती, एक विशेष उदाहरण देकर स्पष्ट करूंगा।

भारत में आर्यों के आदि स्थान का प्रश्न ऋग्वेद से जुड़ा है, क्योंकि वही उनका आदि ग्रंथ है। ऋग्वेद संस्कृत में है। यह एक धार्मिक ग्रंथ है, अतः इसमें कई देवी-देवताओं के भी नाम हैं। जो विशेषज्ञ भाषाओं का अध्ययन करते हैं, उन्हें भाषाशास्त्री अथवा अंग्रेजी में Linguist कहते हैं। वेदों के भाषाशास्त्रियों ने अन्य देशों के उन भाषाशास्त्रियों की पुस्तकों का अध्ययन करना आरम्भ किया, जिन्होंने अन्य भाषाओं के ग्रंथों का अध्ययन किया था। सबसे अधिक ध्यान जो उनका खिंचा, वह था पारसियों के धर्म-ग्रंथ अवेस्ता की गाथाओं की ओर, जो पहलवी भाषा में लिखा गया था आज से प्रायः ३५०० या उससे भी अधिक वर्ष पूर्व। इसकी भाषा और वेदों की भाषा में बहुत समानता है, थोड़े से हेर-फेर से वेदों के मंत्र और अवेस्ता के मंत्र एक जैसे पढ़े और लिखे जाते हैं।

इसी समय वैदिक भाषाशास्त्रियों का ध्यान एक और तथ्य की ओर खिंचा। तुर्की (या एशिया माइनर) में बोगाज कुइय नामक एक छोटा सा प्राचीन स्थल है, जहाँ १३६५ ई० पू० का एक शिला-लेख मिला था। इस लेख में एक संधि का विवरण अंकित है। यह संधि हुई थी दो राजाओं की सेनाओं के बीच, एक थी हित्ती (Hittite) जाति की और दूसरी थी मित्ती (Mittani) जाति की। इस संधि-पत्र में जो लिखा गया, उसमें कुछ-एक देवताओं के भी नाम हैं, जो वही हैं जो वेदों में पाये जाते हैं, जैसे इन्द्र, मित्र, वरुण और दो जुड़वे नासत्य। कुछ संख्याएं भी वैदिक हैं और कुछ-कुछ और नाम भी।

इसी समय एक और ग्रंथ की ओर इनका ध्यान गया। इसे मध्य-एशिया के किक्कुलि नामक एक व्यक्ति ने लिखा था। यह ग्रंथ घोड़ों को प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) देने से संबंधित है। इसमें 'ऐक वर्तन', एक बार घुमाने के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'ऐक' ऋग्वेद के 'एक' से निकटतर जुड़ा है, 'वर्तन' तो है ही। ऐसे और भी अनेक शब्द हैं।

अतः ऋग्वेद, अवेस्ता और बोगाज कुइय शिला-लेख की भाषा एक सी लगी। इसके अर्थ हुए कि भारत, ईरान और तर्की के लोग प्रायः १५०० ई० पू० के आसपास एक ही बोली के बोलने वाले लोग थे। एक पग आगे बढ़कर इन लोगों ने यह भी कहा कि एक ही भाषा को बोलने वाले सब लोगों का एक ही जाति का होना माना जाना चाहिए। एक पग और बढ़कर जो आगे आये, उन्होंने कहा—भारत के आर्य लोग तुर्की से आये।

परन्तु गहरी खोज करने वाले कहाँ चूकते। उन्होंने यह तो पाया कि वेदों और अवेस्ता की भाषा एक सी है और वेदों के चार देवता भी बोगाज कुइय के संधि-पत्र में हैं तथा ऋग्वेद के कुछ शब्द किक्कुलि के ग्रंथ में प्रयुक्त हैं, किंतु अवेस्ता की भाषा और अवेस्ता के देवता तथा किक्कुलि की भाषा और बोगाज कुइय के देवताओं में कुछ मूलभूत अन्तर हैं। उदाहरणार्थ–अवेस्ता में वरुण की कोई भी चर्चा नहीं हुई है। यही नहीं, अवेस्ता में इन्द्र देवता न होकर राक्षस हो जाता है। किक्कुलि का 'ऐक' अवेस्ता में 'इव' हो जाता है।

अतः यह तो साफ हो गया कि कहीं कुछ तो गड़बड़ी है। क्या है और उसका क्या पयार्य है, इसके ऊपर सिर धुना जाने लगा।

वस्तुतः १८वीं और १९वीं शती की इस सिर-धुनाई के पीछे १६वीं शती के अन्तिम भाग की एक बड़ी प्यारी घटना भी है। यह घटना थी फिलिपो ससेट्टी (Flippo Sassetti) नामक एक व्यापारी की, जो इटली के नगर फ्लोरेन्स से आया था और थोड़े समय के लिये गोवा में ठहरा था। उसने एक दिन साथ

समय मित्रों के बीच एक बड़ी भेद-भरी बात कही, जो बाद में लिखी भी गयी। उसने कहा कि संस्कृत भाषा और यूरोप की कई भाषाओं में बड़ी समानता है। संस्कृत की समानता यूरोप की ग्रीक, लैटिन, सेल्टिक आदि भाषाओं से उस समय करना कोई साधारण घटना नहीं थी, भले ही उस फ्लोरेण्टाइनी व्यापारी ने इसके महत्व को उस समय समझा हो या नहीं। यह तो आज पता चला कि उसके कथन की सत्यता प्रमाणित करने में २०० वर्ष लग गये। इन २०० वर्षों में ऋग्वेद, अवेस्ता, बोगाज कुइय, जर्मन, प्राचीन पहलवी आदि कितनी ही भाषाओं का अध्ययन किया गया।

इन सभी प्रकार के भाषाई अध्ययनों के बीच एक विचित्र किंतु बड़ा उचित प्रश्न उठ खड़ा हुआ। क्या वैदिक आर्य बाहर से आये या वे भारत से विदेश गये? कितना ही वाद-विवाद हुआ और फिर एक रास्ता निकाला गया। राजनीतिज्ञों की गोल-मोल भाषा की तरह भाषाविद् बोला, "भाई इस झगड़े में क्यों पड़ा जाय, आखिर यह भी तो हो सकता है कि ये सारी भाषाएं किसी एक अन्य ही स्थान पर पैदा हुईं, जहाँ से शाखा-दर-शाखा होती हुई फैलती चली गयीं।" इसके लिये उसने एक नया शब्द गढ़ा 'इण्डो-यूरोपीय' (Indo-European) और इसे भिन्न कर दिया 'सेमेटिक' (Semetic) भाषाओं से, जिनमें हिब्रू (इसराइल की भाषा), अरबी आदि भाषाएं आती हैं, जिनकी अपनी एक अलग भाषावली है, अलग व्याकरण है।

अब स्वभावतः ही प्रश्न यह उठा कि इस मूल 'इण्डो-यूरोपीय' भाषा का मूल-स्थान कहाँ था? किसी ने ने इसे इसे यूरोप में रखा, किसी ने एशिया में। किसी ने काला सागर (Black Sea) और कैस्पियन सागर (Caspian Sea) के बीच स्थित काकेशस की पहाड़ियों के बीच रखा तो किसी ने रूसी मध्य-एशिया अर्थात् कैस्पियन सागर से पूर्व की ओर तुर्कमीनिया नामक गणराज्य में। किन्तु रखो जहाँ रखना है, प्रश्न तो है उसको प्रमाणित करने का, क्योंकि न तो काकेशस में और न ही तुर्कमीनिया में ६०० ईसा-पूर्व की कोई भाषा उपलब्ध है जिसे इण्डो-यूरोपीय कहा जा सके। इसलिये हुआ यह कि कुछ भाषाविद् पुरातत्त्ववेत्ताओं की ओर झुके। अपने में यह एक अच्छी बात थी, क्योंकि जहाँ भाषाविद् अटक गये, वहाँ शायद पुरातत्त्ववेत्ता उनकी कुछ सहायता कर सकते। किन्तु पुरातत्त्ववेत्ता तो जाता है मिट्टी के बर्तनों की ओर, सोने-चांदी के आभूषणों की ओर, लोहे, तांबे और कांसे के उपस्करों (औजारों) की ओर, कपड़े-लत्ते की ओर, घोड़े आदि पशुओं की हड्डियों की ओर, मानव-कपालों की ओर, रथों के पहियों की ओर, आदि-आदि। अर्थात् उन सभी वस्तुओं की ओर, जिनका उपयोग मनुष्य अपने जीवन में करता है और जो उसके साथ उस हर स्थान पर जाती हैं, जहां वह जाता है। स्पष्टतः यदि वैदिक आर्य भारत में मध्य-एशिया से आये तो मध्य-एशिया की कुछ वस्तुएं भारत में मिलनी चाहिए। इसी प्रकार से प्राचीन भारत के मनुष्यों की हड्डियाँ और मध्य-एशिया के उसी समय के मनुष्यों की हड्डियाँ भी एक जैसी मिलनी चाहिए। अर्थात् नृ-शास्त्र के विद्वानों से भी प्रमाण एकत्र करने चाहिए।

भारत के चोटी के एक पराविद् श्री बालकृष्ण थापड़ ने कुछ वर्ष पूर्व विवेकानन्द स्मारक ग्रंथ, मद्रास-कन्याकुमारी, में अपने एक लेख में यह स्पष्ट बताया है कि भाषाविद् कुछभी क्यों न कहें, पराविद् और नृ-शास्त्री के पास ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं कि वैदिक आर्य भारत में विदेशों से आये। डा० स्वराज्यप्रकाश गुप्त ने भी अपने गत वर्ष प्रकाशित बृहत् ग्रंथ 'आर्केलाजी आफ सोवियत सेंट्रल एशिया ऐंड इण्डियन बार्डर लैंड्स' (१९७९) में अनेक रूसी विद्वानों के विचारों के साथ यही दिखाया है। ऐसा क्यों? इसका एक बहुत बड़ा कारण है। जैसा कि बहुतों को ज्ञात होगा कि भारत में १९५०–५१ में हस्तिनापुर (मेरठ जिला) का उत्खनन आरम्भ कराया प्रो० बी० बी० लाल ने, क्योंकि यह पाण्डवों की राजधानी थी, अतः आर्यों से संबंधित थी। यहाँ पर काले रंग के के चित्रों से युक्त, स्लेटी या राख या धूसर रंग के अनेक मृद्-भाण्डों के अवशेष मिले, जिन्हें उन्होंने आर्यों की एक शाखा से जोड़ा। बाद में प्रो० ए० एच० दानी ने पेशावर के पास, वी० एम० मेसन के कैस्पियन सागर के पास मधुटेपे पर तथा आई०.सरियानिदी आदि विद्वानों ने बैक्ट्रिया में सप्पाली टेपे और दशली टेपे पर भी धूसर रंग के अनेक मृद्-भाण्ड ढूंढ निकाले। उत्तरी ईरान में

शाह टेपे जैसे नगरों में तो धूसर रंग के मृद्-भाण्डों की खोज बहुत पहले ही हो गयी थी। अतः कतिपय विद्वानों ने यह विचार रखा कि कैस्पियन सागर के दक्षिणी भाग से गंगा की घाटी तक के लोग एक ही थे। किंतु पुरातत्त्व-वेत्ताओं की तीक्ष्ण दृष्टि प्रारम्भ से ही क्षीर-नीर-विवेकी रही है। उन्होंने पाया कि अभी तक जितनी खोजें हुई हैं, उनमें क्षेत्रीयता है। ईरान के धूसर पात्रों की आकृतियाँ बैक्ट्रिया (दक्षिण-पूर्वी रूस और उत्तरी अफगानिस्तान, जिसमें से आमूदरिया या आक्सन नदी बहती है)के धूसर पात्रों की आकृतियों से भिन्न हैं। हस्तिनापुर के पात्र गांधार (पेशावर) के पात्रों से भिन्न हैं। उन पर तो चित्रकारी भी नहीं है। अतः उनके प्रयोगकर्त्ता एक वंश के नहीं हो सकते। पात्रों के रंग नहीं, आकृति एक सी होनी चाहिए। सच बात तो यह है कि पुरातत्त्ववेत्ताओं में धीरे-धीरे यह विचार भी सामने आने लगा है कि हड़प्पा संस्कृति के ही समय में वैदिक संस्कृति का उदय होने लगा था। हड़प्पा के लेख अभी पढ़े नहीं जा सके, यह ठीक है, किंतु उससे बहुत बाद की संस्कृतियों के साथ भी उनका मेल नहीं बैठता।

अब प्रश्न यह है कि वैदिक आर्य बाहर से आये और वे एक घुमक्कड़ जाति के अर्द्ध-बर्बर लोग थे, ऐसा बार-बार कहने के पीछे क्या कोई और भी कारण था या यह केवल भाषाशास्त्रियों की खोज थी ? भाषाओं की समानता की ओर अधिक और असमानता की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं देने के पीछे भी कोई एक गहरी चाल थी क्या ?

लगता है कि यहीं इतिहास 'इतिहास' के लिये न होकर 'राजनीति' के लिये हो गया। भारत में अंग्रेजों के राज्य को एक इतिहास-सिद्ध आवरण पहनाना था, एक 'हिस्टारिकल जस्टीफिकेशन' देना था। वह कैसे दिया जाता ? एक ही उपाय था : कि भारत को एक धर्मशाला कहा जाता। सो उन्होंने खलकर कहा। 'आर्य बाहर से आये, मुगल बाहर से आये और अंग्रेज भी बाहर से आये'। जब सभी बाहर से आये, तो कोई किसी और को निकालने की मांग क्यों करे ? इसी बात को कार्ल मार्क्स ने भी १८५३ के २५ जून के अपने एक लेख में, जो न्यूयार्क डेली ट्रिब्यून में छपा था, कहा था :

"Indian society has no history at all, at least no known history. What we call its history, is but the history of the successive intruders who founded their empires on the passive basis of that unresisting and unchanging society. The question, therefore, is not whether the English had a right to conquer India, but whether we are to prefer India conquered by the Turk, by the Persian, by the Rssian, to India conquered by the Briton."

अतः भारत के इतिहास की एक बहुत बड़ी समस्या यह है कि वैदिक आर्यों के मूल-स्थान की खोज, जो २०० वर्षों तक केवल भाषाविदों के हाथों में रही, अब पुरातत्त्ववेत्ताओं, नृतत्त्ववेत्ताओं आदि के हाथों भी पूरी तरह हो जाय, ताकि यह पता लगाया जा सके कि वेद अपने ही ही रचयिताओं के मूल स्थान के बारे में, यदि वह भारत के बहुत बाहर है तो, पूरी तरह से क्यों चुप हैं ? 'बहुत बाहर' की बात मैं इसलिये कह रहा हूं कि प्राचीन भारत की सांस्कृतिक सीमाएं हिंदूकुश के पार आमूदरिया या वक्षु (Oxus) नदी को छूती थीं।

× × × ×

मेरे विचार में प्राचीन भारत के इतिहास की एक दूसरी बड़ी समस्या है भारत की दो प्राचीनतम लिपियों—हड़प्पीय एवं ब्राह्मी के जन्म के संबंध में मतों का भारी अन्तर। किसी न किसी रूप में यह भी अंग्रेजी साम्राज्यवादी दृष्टिकोण का ही परिणाम रहा कि दोनों ही लिपियों को अभारतीय कहा गया। सौभाग्य से अब स्थिति को बहुत कुछ सुधार लिया गया है। हड़प्पा लिपि पर प्रो० बी० बी० लाल, श्री आइ० महादेवन और श्री एस० आर० राव के प्रयासों ने तथा ब्राह्मी पर हाल में ही संपादित डा० एस० पी० गुप्त की पुस्तक 'दि ओरिजिन आफ ब्राह्मी स्क्रिप्ट' ने स्थिति को नया मोड़ दे दिया है और अधिकतर इतिहासकार अब यह मानने लगे हैं कि दोनों ही लिपियाँ भारत की ही हैं।

जैसा कि हम जानते हैं, हड़प्पाकालीन लिपि, जो भारत में कम से कम ४,५०० वर्ष पहले विद्यमान थी, अब भी पूर्णतः पढ़ी नहीं जा सकी है, यद्यपि बहुतों ने—श्री राव ने भी—यह दावा किया है कि उन्होंने इसे पढ़ लिया है। फिर भी इसके अक्षरों के रूप हमें ज्ञात हैं। १९२२ में विधिवत हड़प्पा और मोहनजोदड़ो नगरों की खुदाई प्रारम्भ हुई और पिछले ५७ वर्षों में कालीबंगा, लोथल, बणावली, सूरकोटड़ा, बालाकोट आदि कितने ही अन्य स्थानों की भी हो चुकी है। सभी स्थानों पर इसी लिपि में खुदी और लिखी मुद्राएं और मृद्-भाण्ड मिले हैं। अतः अब हमें ज्ञात हो चुका है कि इस लिपि के अतिरिक्त हड़प्पा के लोगों ने और किसी भी लिपि का प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार अब हमें यह भी ज्ञात हो चुका है कि हड़प्पा युग के लोग बड़े-बड़े नगरों में भी रहते रहे थे और ये नगर पूर्णतः पूर्व-नियोजित थे। १९२४ से इसकी नगर-संरचना और इसकी लिपि पर विश्व भर के इतिहासकार लिखने लगे। सर जॉन मार्शल और सर मार्टिमर व्हीलर ने विशेष रूप से इस सभ्यता की पर्याप्त खोज भी की और इस पर लिखा भी पर्याप्त। और दोनों ने ही यह विचार रखा कि दोनों ही क्षेत्रों में हड़प्पा संस्कृति मेसोपोटामिया (वर्तमान ईराक) से निकली है। सौभाग्य से पुरातत्त्व एक विज्ञान है और इसका हर प्रमाण देखा जा सकता है, छुआ जा सकता है और इसका मिलान दूसरी वस्तुओं से किया जा सकता है। व्यक्तिगत विचारों का स्थान इसमें कम ही रहता है। दो वर्ष पूर्व के अपने एक लेख (१९७७) में डा. गुप्त ने यह प्रमाणित किया है कि हड़प्पा के नगरों की संरचना सम्पूर्ण पश्चिमी मध्य-एशिया में उस समय कहीं नहीं हुई। वहाँ के नगरों में या तो राजा के महल बने या ऊँचे-ऊँचे मंदिर, जिन्हें "जिगूरात" कहते हैं, जन-साधारण तो झुग्गी-झोपड़ी में रहता था। इसके विपरीत भारत के उस काल के नगरों में न तो वैसे महल बने और न ही वैसे मंदिर, जबकि जन-साधारण के लिये बड़े मकानों, ढकी हुई नालियों और चौड़े पथों से भरे हुए अनेक नगर-खण्ड होते थे। इसी प्रकार यह भी प्रमाणित हो गया है कि हड़प्पा की लिपि न तो पूरी तरह से चित्राक्षरी थी और न ही बिना संयुक्ताक्षरों की। यह एक पूर्ण विकसित लिपि थी और ब्राह्मी की तरह इसमें संयुक्ताक्षर होते थे।

ब्राह्मी के विषय में भी न जाने कितना कुछ लिखा गया और कहा गया। जेम्स प्रिंसेप, एमाइल सेनार्ट आदि ने इसे ग्रीक लिपि से निकली बताया। तिरें द ल कूपिरी ने इसे चीनी लिपि से निकली बताया। कैनन आइजक टेलर एवं राइस डाविड्स ने इसका उद्भव असीरी राजाओं की लिपि कीलाक्षरी (Cuneiform) में माना। बेनफी, जेनसन आदि ने इसका जन्म फिनीशियन लिपि में देखा। दानी, बुलर जैसे विद्वानों ने इसका उद्भव उत्तरी सेमेटिक लिपियों में देखा। किन्तु डी० सी० सरकार, बी० सी० एच० छावड़ा, एस० आर०. गोयल आदि के गहन अध्ययनों से अब यह प्रमाणित हो गया है कि ब्राह्मी का उद्भव चौथी शती ई० पूर्व में भारत में स्वतंत्र रूप से हुआ। विश्व भर की लिपियों की थोड़ी बहुत मात्रा में सादृश्यता का कारण मनुष्य-जीवन में एक सी उपलब्ध वस्तुओं और प्रकृति की देनों का होना है, जिसमें से वह बहुत कुछ लेता है। इसका सबसे अधिक उपयोग, प्रचार, प्रसार भारत के महान सम्राट अशोक ने किया। उसने अपने शिला-लेखों में ग्रीक, अरामाइक और खरोष्ठी जैसी लिपियों का भी प्रयोग किया, किन्तु स्वतंत्र रीति से।

× × × ×

प्राचीन भारत के इतिहास की समस्याओं में एक और भी समस्या है, जिसका संबंध आर्यों से और सिंधु-घाटी या हड़प्पा संस्कृति से सीधा रहा है। यह है—हड़प्पा संस्कृति के ह्रास का उत्तरदायी कौन है ?

सर मार्टिमर व्हीलर जैसे साम्राज्यवादी पुरातत्त्ववेत्ताओं ने आर्यों को इसका दोषी ठहराया है। वे लिखते हैं 'Indra stands accused' आर्यों के देवता इन्द्र ने ही हड़प्पा की किलेबंदी को नष्ट किया था। हड़प्पा ही वैदिक हरियूप नामक नगर था, जिसका वर्णन ऋग्वेद में आता है। इस विचार का पूर्ण खण्डन चोटी के पुरातत्त्ववेत्ता श्री ब्रजवासी लाल ने किया है। व्हीलर के ही हड़प्पा के उत्खनन के साक्ष्य के आधार पर उन्होंने विभिन्न स्तरों का विवरण देते हुए यह बताया है कि हड़प्पा के शव-स्थान 'एच' के वे लोग, जिन्हें व्हीलर महोदय आर्यों से जोड़ते हैं, हड़प्पा नगर के ह्रास के बहुत

बाद में आये। बर्कले विश्वविद्यालय के प्रो० डेल्स ने मोहनजोदड़ो की फिर से खुदाई की और यह प्रमाणित कर दिया कि नगर में बिखरे थोड़े से नर-कंकालों को व्हीलर जो ऋग्वेदीय आर्यों द्वारा एक समय में मारे हुए मनुष्यों के कंकाल बताते हैं, वह गलत है। सच बात तो यह है कि वे विभिन्न समयों पर सिंधु नदी की बाढ़ की चपेट में आये हुए लोगों के कंकाल हैं। 'Indra has been exhonerated.' इन्द्र को पूर्णतः दोषमुक्त कर दिया गया। हड़प्पा संस्कृति के ह्रास के अनेक आर्थिक, सामाजिक और जलवायु संबंधी कारण हैं, आर्यों की तथाकथित सेनाओं की चढ़ाई नहीं।

हमने भारतीय इतिहास की कुछ समस्याओं का उल्लेख यहाँ किया। इसका आशय यही है कि पिछली शती में साम्राज्यवादी और साम्यवादी इतिहासकारों ने हमारे देश के प्रारम्भिक काल-खण्ड की ही जड़ों से अपना ध्वंस-कार्य प्रारम्भ किया था। सौभाग्य की बात यह है कि धीरे-धीरे पुरातत्त्ववेत्ताओं ने वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर उसे झुठला दिया है। किंतु अभी बहुत कुछ खोज करना शेष है, यह हम अच्छी प्रकार से जानते हैं।

भारतीय इतिहास एवं संस्कृति परिषद्, नयी दिल्ली

□

समस्याओं का उल्लेख
है कि पिछली शती में
तिहासकारों ने हमारे
ी ही जड़ों से अपना
ोभाग्य की बात यह है
वैज्ञानिक प्रमाणों के
किंतु अभी बहुत कुछ
प्रकार से जानते हैं।

इतिहास एवं संस्कृति
परिषद्, नयी दिल्ली

११ फरवरी, पुण्यतिथि पर

डा० मुरलीमनोहर जोशी

पं० दीनदयाल उपाध्याय : व्यक्ति और विचार

मैं जब छात्र था, तभी से दीनदयाल जी के साथ मेरा संबंध था। उन दिनों भी हम उन्हें पंडित जी कहा करते थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, जब से मैं इलाहाबाद में रहता हूं, तब से जब कभी पंडित जी इलाहाबाद आये, शायद ही एकाध अवसर पर वे कहीं और ठहरे हों; सामान्यतः वे मेरे ही घर पर ठहरा करते थे। इसलिये उनके सामान्य जीवन के विषय में काफी कुछ ज्ञान मुझ है। बहुत ही सादे व्यक्ति, देखकर यह अनुभव नहीं होता था कि इतने गंभीर विचारक होंगे। इतना महान राजनीतिज्ञ, इतना बड़ा तत्त्व-दर्शी और इतना अधिक सादा। यह कई बार हुआ कि रिक्शे पर बैठ हुए पंडित जी चले आ रहे हैं सबेरे ६ बजे; कोई सूचना नहीं; घर पर आयेंगे, स्नान करेंगे और कहेंगे भई जल्दी से मुझको उड़द की दाल और दही में चीनी डाल कर भोजन तैयार कराओ। उन दिनों मैं अविवाहित था, और जब तक मैं कहीं से घूमघाम कर वापस आऊं, तब तक पंडित जी तो रिक्शे पर बैठ कर स्टेशन चले भी जाते थे।

उन दिनों प्रायः यह हो जाया करता था कि पंडित जी को लाने ले जाने के लिये मोटरकार का प्रबंध करने में विलम्ब हो जाता। तो "नहीं, कोई आवश्यकता नहीं; तुम्हारे पास मोटरसाइकिल है, इसी पर चलेंगे" कहते हुए वे मेरी मोटरसाइकिल पर जा विराजते थे। १९६२ के आम चुनावों में तो यह कई बार हुआ कि उनकी सभा का समय हो रहा है और जो कार्यकर्त्ता उनके लिये मोटर का प्रबंध करने गये हैं उन्हें आने में विलम्ब हो गया है, तो "चलो मोटरसाइकिल से ही चलते हैं। जहाँ रास्ते में मोटर मिलेगी, वहाँ उसको ले लेंगे।" आठ-आठ, दस-दस, बारह-बारह मील देहात में भी वे मोटरसाइकिल पर मेरे साथ बैठकर चले जाते थे। भारतीय जनसंघ के वे उस समय महामंत्री थे, पर अपने व्यवहार से कभी यह अनुभव होने ही नहीं दिया कि वे इतनी बड़ी संस्था के महामंत्री हैं। एक बिलकुल छोटी सी मोटरसाइकिल पर पीछे बैठकर बहुत बड़ी सार्वजनिक सभाओं में भाषण करने के लिये जा रहे हैं! ऐसा निश्छल व्यवहार कि कहीं किसी प्रकार की कोई ग्रन्थि नहीं।

उनके कपड़ों और अन्य वस्तुओं के बारे में तो जितना कहा जाय, वह उतना ही मजेदार है। उन्हें देखकर कोई यह पता नहीं लगा सकता था कि इस प्रकार का बिल्कुल सादी ग्रामीण वेशभूषा वाला व्यक्ति पं० दीनदयाल उपाध्याय है। वे सही अर्थ में वीतराग थे और यही कारण था कि उनकी आकृति और उनके चेहरे से लोग परिचित नहीं थे। लोग पं० दीनदयाल जी के विचार से परिचित थे, भारतीय जनसंघ से परिचित थे, जनसंघ के अनेक नेताओं से परिचित थे, किन्तु दीनदयाल जी को देखकर उनको पहिचानने में लोगों को कुछ कठिनाई होती थी। एक घटना तो स्वयं उन्होंने ही सुनायी। दिल्ली स्टेशन पर एक कार्यकर्त्ता उनसे मिले, वे ४–५ मिनट तक उनसे बातचीत करते रहे। इतने में उन कार्यकर्त्ता महोदय के एक और मित्र भी आ गये। दीनदयाल जी की ओर संकेत करके कार्यकर्त्ता बन्धु ने अपने मित्र से कहा, "क्या तुम इन्हें पहिचानते हो" ?–उत्तर मिला, "नहीं"। "अरे ये भारतीय जनसंघ के इतने बड़े नेता हैं, तुम इन्हें पहिचानते भी नहीं ? ये ही तो हैं श्री अटल बिहारी वाजपेयी।" दीनदयाल जी से वे सज्जन इस प्रकार बात कर रहे थे कि मानो उनके साथ बहुत घनिष्ठ परिचय है। किन्तु नाम याद आया उनको, तो अटलबिहारी वाजपेयी का। दीनदयाल जी को नाम, अपनी सार्वजनिक प्रसिद्धि, इससे कोई मोह नहीं था, इसकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की। वे स्वयं बहुत आनन्द लेकर उस घटना को सुनाते थे। उस समय श्री अटल बिहारी वाजपेयी की स्थिति भी काफी हास्यास्पद हो जाया करती थी। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसिद्धिपराङ्मुखता, प्रसिद्धि से कोई लाभ नहीं—यह वृत्ति उनमें कूट-कूट कर भरी थी। देश में यह स्थिति है कि राजनीतिक पुरुष यह नित्य देखता है कि मेरी प्रसिद्धि आज कितनी हुई है ? आज समाचार-पत्र में कितनी बार मेरा नाम छपा है ? जहां ऐसा राजनीतिक वायुमंडल हो कि नाम प्रतिदिन छपना ही चाहिए, वहाँ एक ऐसा व्यक्ति, जो इस बात से भी बिल्कुल निरपेक्ष, तटस्थ रहता हो, प्रसिद्धि के लिये आग्रह तो दूर की बात, बल्कि उससे एक प्रकार की वितृष्णा रखे, आश्चर्य ही कहा जायेगा। कई बार मैं कहता था कि पंडित जी आप सभा में जा रहे हैं, यह आपका जो कुर्त्ता है, जरा इसको दीजिए, इस पर मैं प्रेस करवा दूं, तो कहते थे कि लोग मेरी बात सुनने आ रहे हैं या मेरा कुर्त्ता देखने आ रहे हैं ? और प्रायः यह होता था कि जब जाड़ा समाप्त हुआ तो अपनी शाल और अपना गर्म कुर्त्ता किसी एक कार्यकर्त्ता के घर छोड़ दिया और कहा कि मेरी वह धोती जो पिछले वर्ष छोड़ गया था (जो बहुधा फटी हुई भी होती थी), वह कहाँ है ? फिर गर्मी समाप्त हुई तो कभी पहुंच गये कि वह शाल कहाँ है? सामान इतना कम कि एक छोटी अटैची भी उनकी पूरी भरती नहीं थी। अपरिग्रह वृत्ति का एक साधक–अहर्निश भ्रमण करने वाला, देश के कोने-कोने में जाने वाला–हर प्रान्त के हर नगर में घूमते-घूमते अनेक गांवों के कार्यकर्त्ताओं के घर ही मानो उनके अपने घर बन गये थे।

वे आते थे, लोग कहते थे "पंडित जी आ गये," यानी बिल्कुल एक अपने घर का ऐसा व्यक्ति जो हम सब का मार्गदर्शन करने वाला, हम सब की चिन्ता करने वाला, हमारा अपना, वह घर में आ गया। जिन लोगों के साथ वे ठहरते थे, उनके साथ ऐसा तादात्म्य उनका था। कालीकट अधिवेशन के लिये भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष के रूप में जाते हुए जिस डिब्बे में वे थे, उसी में मैं भी था। दिल्ली से लेकर कालीकट तक "जय जय दीनदयाल" की ध्वनि प्रत्येक स्टेशन पर होती थी। स्थान-स्थान पर कार्यकर्त्ता रात को एक बजे भी पहुंचते थे, मालाओं से उनको लादने की चेष्टा करते थे, परन्तु दीनदयाल जी पर मैंने उसका तनिक भी प्रभाव नहीं देखा। जिस समय कालीकट अधिवेशन से वे लौटकर लखनऊ स्टेशन पर आये तो वहाँ एक कार्यकर्त्ता मिले। वह कार्यकर्त्ता बाद में उत्तर प्रदेश के मंत्रि-परिषद् के एक सदस्य भी बने। पंडित जी उनसे कहने लगे–मौलिक अधिकारों के विषय में आपने जो सुझाव दिया था, उसका मैंने अपने अध्यक्षीय भाषण में समावेश कर दिया है। और, समाचार-पत्रों के जितने भी संवाददाता आये हुए थे, उनको मिलाते हुए कहने लगे कि देखिए ये हमारे इलाहाबाद हाईकोर्ट के वकील हैं और इन्होंने ही यह महत्वपूर्ण सुझाव मुझे दिया था। ऊपरी तौर पर यह बहुत छोटी सी बात थी, शायद वे कार्यकर्त्ता भी भूल गये थे कि उन्होंने कभी पंडित जी को ऐसी बात बतायी भी थी, किन्तु दीनदयाल जी के लिये यह महत्वपूर्ण था कि यदि किसी व्यक्ति ने कोई अच्छी बात बतायी तो उसके प्रति कृतज्ञता का भाव

रखना चाहिए। यह भाव सामान्यतः आजकल देखने को नहीं मिलता। ऐसी अनेक घटनाएँ हैं जो उनकी अहंकार-शून्यता का परिचय देती हैं। जीवन में इतनी विनम्रता कि दीनदयाल जी कभी-कभी दीनता की साक्षात प्रतिमूर्ति ही बने दिखायी देते थे।

स्टेशन पर कभी उन्हें ढूंढने जाइए और यदि आपने उन्हें पहले देखा न हो तो यह जानना कठिन होता था कि दीनदयाल जी कहाँ मिलेंगे। आवश्यक नहीं कि वे प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ही आपको मिलें। यह हो सकता था कि वे जाड़ों में रात को टू टियर में, या बिना आरक्षित डिब्बे में भी कहीं बिल्कुल गठरी सी बने हुए रजाई के अन्दर बैठे हुए मिल जायँ और आप बहुत आवाज दें तब पता लगे कि दीनदयाल जी इस डिब्बे में एक गठरी में से प्रकट हो रहे हैं।

वे सामान्य भारतीय की भांति विदेश गये। कहने लगे कि मैं तो वहाँ पगड़ी बांधूंगा। क्यों? "ठंड होती है इसलिए?" "नहीं", बल्कि इसलिये कि, "एक सामान्य भारतीय कृषक पगड़ी बांधता है इसलिये मैं भी वही पहनूंगा।" पंडित जी का भारतीय नागरिक के साथ इस सीमा तक तादात्म्य था। अनेक घटनाएं हैं इस प्रकार की, जो उनके जीवन के इंद्रधनुष का वर्ण स्पष्ट करती हैं हर क्षेत्र में।

बुद्धि के क्षेत्र में तो मुझे भोपाल अधिवेशन में एक नया अनुभव मिला। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के एक प्रोफसर को दीनदयाल जी का भाषण सुनाने के लिये मैं ले गया। भाषण सुनकर लौटे तो वह कहने लगे "डा० जोशी, यह आदमी, आदमी कहाँ हैं? यह तो बुद्धि है साक्षात्। इसमें मुझे शरीर नजर नहीं आता; ऊपर से नीचे तक केवल बुद्धि ही बुद्धि है और कुछ है ही नहीं"। मैंने कहा अभी तक तो आपने केवल उनके बहिरंग का ही स्पर्श किया है, आगे चलेंगे तो आपको शायद पता लगेगा कि पंडित जी में बुद्धि से और आगे जो 'तत्त्व' नाम की वस्तु है, केवल वह तत्त्व ही तत्त्व भरा है, वह बुद्धि से भी परे है। उनकी बुद्धि की प्रगल्भता, विद्वता, उनका अध्ययन. विषय का प्रतिपादन करने के उनके निराले ढंग में प्रकट होती थी। उनकी अपनी एक विशेष शैली थी। वैसे तो वे प्रकृति से, मेरे विचार में, अध्यापक थे। वे अध्यापन-कार्य करते होते तो निश्चय ही आज भारत के सर्वाधिक सफल अध्यापकों में उनका नाम रहा होता। कठिन से कठिन विषय को सरल शब्दों में, और ऐसे सहज भाव में जटिल से जटिल विचार वे समझा देते थे कि सामान्य व्यक्ति भी उसे अच्छी तरह समझ जाता था। बड़े से बड़े अधिवेशनों में, आठ-आठ, दस-दस हजार कार्यकर्त्ताओं के समूह में, उलझे से उलझे विषय को जहाँ पंडित दीनदयाल जी ने स्पर्श किया, ऐसा लगता था मानो विषय निर्मल हो गया, स्फटिक की भांति स्वच्छ हो गया, इसमें कहीं कोई उलझाव नहीं रहा, कहीं कोई जटिलता नहीं रही। लोग कहते थे—अरे यह तो एक बिल्कुल सरल बात है, इतनी सी सीधी बात हम पहले क्यों नहीं समझ पाये, वाह! मेरे विचार से ऐसा तभी संभव होता है, जब व्यक्ति विचार के साथ अत्यन्त गहरा तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। जब उसमें और विचार में कोई अन्तर नहीं रह जाता, तब वह उस तात्त्विक मीमांसा के हर पहलू को, उसके हर पक्ष को बड़ी सरलता के साथ, सबके सामने स्पष्ट कर सकता है।

दीनदयाल जी पार्थिव रूप से अवश्य चले गये हैं। किन्तु विचार के रूप में वे अमर हैं। सामान्यतः लोग समझते हैं कि दीनदयाल जी ने किसी राजनीतिक दल के लिये एक विचारधारा दी। मैं ऐसा समझता हूं कि यह मूल्यांकन उन को बहुत सतही तौर पर देखना होगा। भारतीय जनसंघ के प्रारम्भ में ही डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने कहा था—"यदि मुझे दो दीनदयाल मिल जायँ तो मैं इस सारे भारतीय राजनीतिक रंगमंच का नक्शा बदल दूं।" ऐसी थी उनकी कर्म-साधना। पंडित जी का कर्तृत्व तो बहुत विशाल था, किन्तु इससे भी अधिक व्यापक था उनका जीवन-दर्शन। 'एकात्म मानववाद' के रूप में एक समग्र जीवन-दर्शन जगत् को दीनदयाल जी की अद्भुत देन है।

एकात्म मानववाद

एकात्म मानववाद कोई एक नारे के रूप में विकसित नहीं किया गया था। यह कोई ऐसा नारा नहीं था कि "धन और धरती बंट के रहेगी", या "कमाने वाला

खायेगा", इस प्रकार की कोई बात नहीं है। यह समूचे मानव-समाज का एकात्म रूप में दर्शन करने का एक अभिनव प्रयास है।

मानव-समाज क्या है ? क्या यह मनष्यों का समूह मात्र है ? कुछ व्यक्तियों की केवल एक भीड़ है ? दैवयोग से कुछ लोग एक साथ आ गये किसी ट्रेन के डिब्बे में या होटल में, या किसी बाजार में या किसी प्रदर्शनी में, तो क्या ऐसे मनष्यों के एकीकरण को समाज की संज्ञा दी जा सकती है ? या समाज की कोई निश्चित पहिचान होनी चाहिए ? दीनदयाल जी ने यह बताया कि मानव-समाज एक सावयव जीवमान तत्त्व है, इसे आप केवल जड़ में नहीं देख सकते, वरन् जैसे मानव-शरीर को आप एक जीवमान रूप में देखते हैं, सावयव रूप में देखते हैं, मानव-समाज को भी हमें उसी रूप में देखना चाहिए। यह कितनी अटपटी सी बात है कि यदि हम किसी से पूछें कि क्या आप 'समाजवादी' हैं ? और वह उत्तर दे कि 'नहीं', तो तत्काल यह समझ लिया जायेगा कि बस यह तो 'पंजीवादी' है, और यदि कोई 'पूंजीवादी' होने से इंकार कर दे तो सामान्यतः यह समझा जायेगा कि वह 'समाजवादी' है। प्रश्न है कि क्या इन दो के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं हो सकता ? एकात्म मानववाद मानव-समाज को केवल दो ध्रुवों के बीच में या दो विचार-धाराओं के बीच में ही बांट देने का समर्थक नहीं है। सारे समाज को एक भिन्न दृष्टि से देखने के कारण एकात्म मानववाद समाज-रचना का एक अत्यन्त गतिशील प्रतिमान प्रस्तुत करता है।

वस्तुतः हुआ यह था कि बहुत पहले हमारे देश के अनेक मूर्धन्य नेताओं का सम्पर्क यूरोपीय राजनीतिक आन्दोलनों से हुआ। ऐतिहासिक कारणों से, वे राजनीतिक आन्दोलन दो रूपों में विकसित हुए थे। फ्रांस की राज्य-क्रांति के पश्चात् जो समूचे पश्चिमी जगत में 'स्वतंत्रता, समता और बंधुता' के विचार चले, उनमें 'स्वतंत्रता' पर आग्रह करने के कारण जनतंत्र और फिर केवल स्वतंत्रता के बारे में अधिक आग्रह के परिणामस्वरूप आर्थिक क्षेत्र में शोषण की भी स्वतंत्रता को मान्य करने वाले पूंजीवाद का भी विकास हो गया। समाज का ऐसा प्रतिमान (माडल) विकसित हो गया, जिसमें 'समता' या 'बंधुता' तो बिल्कुल नकार दी गयी और केवल स्वतंत्रता के नाम पर अबाधित, अमर्यादित, उच्छृंखल स्वतंत्रता का जन्म हुआ। वह प्रतिमान आज भी विश्व के कुछ देशों में है।

दूसरी ओर केवल 'समता' पर बहुत अधिक आग्रह करने से 'स्वतंत्रता' और 'बंधुता' आंखों से ओझल कर दी गयीं। और फिर, समता में से समान वितरण, उत्पादन-प्रणालियों पर शासकीय एकाधिकार और अंततोगत्वा राजकीय तानाशाही का जन्म हो गया। किन्तु इन दोनों ने ही 'बंधुता' नामक तत्त्व को आंखों से पूरी तरह ओझल कर दिया। इसलिये सारे पश्चिमी जगत् में प्रधान रूप से केवल दो ही विचारधाराएं पनप सकीं और परिणामतः एक ओर 'जनतंत्रवादी-पूंजीवादी' और दूसरी ओर 'समाजवादी तानाशाही' समाज-रचनाएं विकसित होती चली गयीं।

दीनदयालजी के अनुसार इन दोनों से भिन्न एक ऐसा विकल्प भी हो सकता है जो व्यक्तियों को केवल राजनीतिक प्राणी या केवल आर्थिक प्राणी न मानकर तथा समाज को केवल किसी विशेष उत्पादन-प्रणाली का पिष्ट-पेषण करने वाला जन-समूह न मानकर, इसको एक जीवमान संकल्पना के रूप में ग्रहण करता है। इसलिये उन्होंने व्यष्टि और समष्टि के बीच में जो संबंध होना चाहिए, उसको भारतीय पृष्ठभूमि में परिभाषित करने का प्रयत्न किया। व्यक्ति क्या है ? यदि पश्चिम के विचारकों से पूछा जाय तो उनके यहाँ कालक्रम से 'व्यक्ति' की भिन्न-भिन्न परिभाषा की गयी हैं। किसी ने कहा है कि व्यक्ति तो मात्र शरीर है और इसलिये यह शारीरिक एषणाओं का पंज है। यदि आपने किसी प्रकार से भी इनकी संतुष्टि कर दी तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। और समाज क्या है ? तो उत्तर मिलेगा कि वह विभिन्न व्यक्तियों में अपनी शारीरिक एषणाओं को पूरा करने के लिये एक समझौता मात्र है। साथ आना और मिलना और फिर उसके बाद एक विशेष आर्थिक प्रणाली का जन्म लेना—यही बस समाज-जीवन है, इसके आगे है ही क्या ? स्पष्ट है कि यह समाज-व्यवस्था का एकांगी प्रतिमान (माडल) है। कहीं विचारकों ने यह कहा कि 'व्यक्ति' मात्र एक धार्मिक अस्तित्व है, यह तो धार्मिक

विचारों से अनुप्राणित होता है। संभवतः इससे कुछ कठमुल्लापन का, धार्मिक अंधविश्वासों का, मतांधता का एक विशेष दुराग्रह निर्मित हुआ और उसने भी विश्व में विनाश किया। कुछ ने कहा कि नहीं व्यक्ति तो एक राजनीतिक अस्तित्व है, इसकी कुछ विशिष्ट राजनीतिक आकांक्षाएँ हैं, उनकी पूर्ति के लिये ही विभिन्न समाजों का उदय होता है इत्यादि-इत्यादि और साम्राज्यवाद उसमें से पैदा होता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार से 'व्यक्ति' को परिभाषित करने के कारण, उसकी किसी एकांगी प्रवृत्ति को ही समग्र व्यक्ति मान लेने के कारण, अनेक प्रकार के विचार देखने में आते हैं।

फ्रायड ने भी एक प्रकार के 'व्यक्ति' को सामने रखा, उसने मानव की अधिकांश क्रियाओं और कार्य-व्यापारों का उद्गम उसकी ग्रंथियों के साथ जोड़ा और कहा कि व्यक्ति में जो वासनाएं हैं, उनसे ही वह अनप्राणित होता है और वे ही उसे प्रेरित करती हैं। उसकी जो भी भावनाएं हैं, जो भी उसके अन्दर प्रेरणाएं हैं, उन सब का उद्गम व्यक्ति के यौन-व्यवहार पर निर्भर है। फ्रायड ने व्यक्ति के इस रूप पर ही बल दिया।

कहीं-कहीं 'व्यक्ति' एक आर्थिक प्राणी के रूप में ही समझा गया। तब व्यक्ति और समाज का परस्पर संबंध उत्पादन-प्रणाली के आधार पर ही समझने का प्रयत्न किया गया। तो, तरह-तरह से व्यक्ति को परिभाषित करने के प्रयत्न किये गये और उन पर आधारित अनेक राजनीतिक-आर्थिक दर्शन प्रस्तुत करने के प्रयत्न किये गये। पर वे सभी अधूरे हैं। अब जिस प्रकार पश्चिम में जीवन-दर्शन उत्पन्न हुए हैं, जिस प्रकार एक संस्कृति का जन्म बहा हुआ है तो क्या वही एकमात्र संस्कृति है जो मानव-जीवन के लिये कल्याणकारी है, या उसके कुछ विकल्प भी हो सकते हैं? दीनदयाल जी ने वैज्ञानिक एवं दार्शनिक आधार पर एक विकल्प हमारे सामने प्रस्तुत किया। इससे पहले कि वे इस विचार के प्रत्येक पक्ष को अपनी भाषा में, अपनी वाणी में, अपनी रीति से लोकप्रिय बना पाये होते, वे काल के क्रूर प्रहार से असमय ही हमारे बीच से चले गये। आज आवश्यकता है कि हम उस एकात्म मानववाद के सभी पक्षों पर विचार करें, उस पर गहराई से चिंतन करें और यह देखें कि किस प्रकार वह आधुनिक परिप्रेक्ष्य में एक जीवन्त दर्शन के रूप में मानवीय समस्याओं का निराकरण कर सकता है।

एकात्म मानववाद के अनुसार, व्यक्ति केवल शरीर नहीं है, बल्कि भारतीय विचारकों के तारतम्य में व्यक्ति शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा का समन्वय है। क्योंकि समष्टि व्यक्तियों से मिल कर बनती है, इसलिये उसमें भी इन तत्त्वों का किसी न किसी रूप में दर्शन होना चाहिए। इसलिये समष्टि के लिये भी देश, जन, संस्कृति और चिति की आवश्यकता है। व्यष्टि-समष्टि-संबंधों की इस व्याख्या में चिति को ठीक से समझना महत्वपूर्ण है।

समाज-रचना के संबध में दीनदयाल जी की चिति की अवधारणा एक श्रेष्ठ देन है। स्थूल रूप में यदि आप कहें तो जैसे व्यक्ति का एक आत्मा है, वैसे ही समाज का भी कोई आत्मा है, उसमें भी कोई चैतन्य भाव है और इस चिति का प्रकटीकरण, इसका सम्यक् रूप से अनुभव ही किसी समाज को स्वस्थ एवं गतिमान बनाता है। यह चिति ही उसका विराट रूप प्रदर्शित करती है, यही समाज को ठीक प्रकार से संचालित कर सकती है, उसके ताप को ठीक प्रकार से नियंत्रित कर सकती है और समाज को समाज रूप में अपनी स्थिति बनाये रखने में समर्थ करती है। जैसे आत्मा एक भावात्मक संबोध है, वैसे ही चिति भी एक भावात्मक संबोध है। उसको आप यदि स्थूल रूप में पकड़ना चाहें, मुट्ठी में बंद करना चाहें, तो कठिन होगा। किन्तु बिना आत्मा के मनुष्य की कल्पना भारतवर्ष में करना तो कठिन है। इसी प्रकार समाज की भी चिति का, इस चैतन्य तत्त्व का, समाज के रूप में रहने की इस नैसर्गिक इच्छा का अनुभव करना ही संभव होगा, किन्तु उसको पकड़ कर किसी एक स्थूल रूप में दिखा पाना कठिन होगा। दीनदयाल जी का यह विश्लेषण था कि इस सामाजिक चेतना को, इस चैतन्य को यदि समाज में नहीं बनाये रखा जाता तो समाज अपनी सारी मूल प्रकृति को खो बैठता है। अतएव व्यष्टि और समष्टि का नैसर्गिक संबंध परस्पर सहयोग का है। व्यक्ति के आत्मा और समाज की सामूहिक

चेतना का साक्षात्कार ही सच्चा जीवन-दर्शन प्रदान करेगा।

कई बार हम लोग उनसे पूछते रहते थे कि पंडित जी, संस्कृति क्या होती है? वे बड़े ही सरल ढंग से समझा देते थे कि "भई देखो, प्रकृति तो बिल्कुल बोधगम्य है। मनुष्य को भूख लगती है—यह उसकी प्रकृति है। दूसरे के साथ बांट कर खाना चाहिए—यह इस भूख लगने वाली नैसर्गिक प्रकृति का एक विकास है मानवीय समाज को स्वस्थ रखने के लिये, इसको ठीक रखने के लिये; यही संस्कृति है। दूसरे से छीन कर खा जाओ, यह विकृति है। यदि व्यक्ति अपने आत्मा और विश्वात्मा का अनुभव करता है, तो वह संस्कृति की ओर स्वभावतः ही चल पड़ता है"। इसलिये पंडित जी कहते थे कि व्यष्टि और समष्टि का सम्यक् संबंध होना चाहिए। व्यक्ति यदि सूक्ष्म है तो समष्टि विराट् है। व्यष्टि यदि बूंद है तो समष्टि सागर है।

शिक्षा के बारे में वे यह बताते थे कि भई, शिक्षा वह प्रणाली है, वह प्रक्रिया है, जिससे कोई समाज अपने सदस्यों को अपने अनुरूप ढालता है। इसलिये शिक्षा व्यष्टि और समष्टि का संबंध जोड़ने वाला प्रमख तत्त्व है। शिक्षा वह प्रक्रिया है जिससे समष्टि अपने आप को पुनरुत्पादित करती है, अपने लिये योग्य नागरिक बनाती है और नागरिक शिक्षित होकर अपने समाज के लिये उपयोगी बनने की चेष्टा करता है तथा आवश्यकतानुसार उत्तम समाज का निर्माण भी करता है। शिक्षा के बाद वह कर्म करता है, इसलिये वह कर्म ऐसा होना चाहिए कि व्यष्टि के प्रति उस समाज ने शिक्षा का अभी तक जो दायित्व निभाया है, उसका प्रतिफल समाज को दे सके। अर्थात् समाज ऐसी शिक्षा व्यक्ति को दे कि वह व्यक्ति उसके लिये उपयोगी इकाई बन सके और जब व्यक्ति कर्म करेगा तो कर्मफल के रूप में उसको मिलना चाहिए।

और फिर, जैसे कि व्यक्ति कर्म भी करता है, कर्मफल भी मिलता है तो उसको यज्ञ करना चाहिए। यह भारतीय संस्कृति का एक तत्त्व है। समाज का हम फिर से भंडार भरें, फिर से कुछ ऐसा त्याग करें कि समाज के स्रोत सूखें नहीं और शिक्षा, कर्म एवं कर्मफल के लिये निरंतर प्रयत्नशील, समृद्ध समाज बनता रहे—उसके लिये यज्ञ करना चाहिए और, फिर वे हंसी मजाक में कहते थे, अन्ततः आज की जो कराधान-प्रणाली है, वह क्या है? यह भी तो यज्ञ का रूप है। जो मैंने कमाया, उसका एक अंश मैं समाज के लिये दे रहा हूं। इस कराधान को क्यों नहीं आप आजकल यज्ञ के रूप में स्वीकार करते? जैसे यज्ञ एक पवित्र कार्य माना जाता है, ऐसे ही समाज को अंश प्रदान करना, समाज के स्रोतों को भरते जाना, अपनी आय में से एक अंश समाज के लिये बराबर, विधिवत देते जाना—यह यज्ञ की भावना से होना चाहिए। इसलिये कर-वंचना नहीं होनी चाहिए। समाज-रचना की व्यवस्था करने वाले इस प्रकार के प्रतिमान हम बनायें।

अर्थायाम

वे प्रायः कहते थे कि प्राणायाम की आवश्यकता पड़ती है शरीर के हर अंग में पोषक –'आक्सीजन' पहुंचाने के लिये। जीवन के लिये जो सबसे महत्वपूर्ण तत्त्व है–प्राणवायु, वह यदि आप शरीर के हर जीवकोष (सेल) में पहुंचाना चाहते हैं तो उसके लिये आपको प्राणायाम करना पड़ता है। उसी प्रकार से भौतिक क्रिया-कलापों के लिये पोषक तत्त्व "अर्थ" है (जिसमें उत्पादन और उपभोग दोनों ही सम्मिलित हैं), अतः समाज को अर्थायाम करना चाहिए।

प्राणायाम है नियंत्रित श्वास लेना, उसको क्षणिक रोकना और फिर उसका निश्वास; अर्थात् आक्सीजन लेना, रक्त के प्रत्येक कण तक पहुंचाना और दूषित वायु को बाहर निकालना। निरन्तर इस बात का प्रयत्न करना कि यह पोषण प्रत्येक जीवकोष में पहुंचता रहे। तो जैसे व्यक्ति के स्वास्थ्य के लिये यह प्राणायाम आवश्यक है, वैसे ही समाज के स्वास्थ्य के लिये 'अर्थायाम' आवश्यक है। यह स्वाभाविक है कि जैसे आप केवल सांस खींचकर ही बहुत देर तक नहीं बैठे रह सकते (समाधि वालों की बात छोड़ दीजिए, सामान्य व्यक्ति के लिये सांस रोककर बैठना कठिन है), वैसे ही आप अर्थ को एक स्थान पर जकड़ कर नहीं बैठ सकते। यदि रक्त कहीं शरीर के एक कोने में जाकर जमने लग जाय तो थक्के बनने

लगते हैं, जीवन के लिये खतरा बन जाता है। इसी प्रकार यदि अर्थ एक ही व्यक्ति के पास बहुत अधिक मात्रा में संचित हो जाय तो यह भी सामाजिक स्वास्थ्य के लिये प्रदूषण पैदा करता है, अवरोध उत्पन्न करता है। प्राणायाम की भांति अर्थायाम सामाजिक स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है और इसमें से फिर उपभोग पर संयम, उत्पादन कैसा और उपभोग कितना और किस सीमा तक, ये सारे सिद्धान्त बिल्कुल स्वाभाविक रूप में प्राप्त होते चलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एकात्म मानववाद किसी एक विशेष राजनीतिक नारे से नहीं बंधा है, यह विचार मानव और मानव-समाज की मूल प्रकृति के विश्लेषण पर आधारित है। शायद मनुष्य की चार मोटी विधाएं मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा भारत में अभी तक सर्वमान्य हैं (महर्षि अरविन्द के सिद्धान्त के अनुसार यदि कभी अतिमानव का प्रादुर्भाव हुआ तो किसी अन्य विधा को भी हम देख सकेंगे, तब शायद बात भले ही बदल जाय) और जब तक ये चार तत्त्व सर्वमान्य हैं, तब तक ऐसा समग्र चिन्तन, जिसमें व्यक्ति माने मन, बुद्धि, शरीर और आत्मा तथा समाज माने देश, जन, संस्कृति और विति, जिसमें व्यष्टि और समष्टि के सम्यक् संबंध शिक्षा, कर्म, कर्मफल और यज्ञ द्वारा परिभाषित हैं, जिसमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के चारों पुरुषार्थों का विचार है, एक स्वस्थ समाज-रचना के लिये जीवन-दर्शन एवं विचार-दर्शन के रूप में हमारे सामने उपस्थित है। इस एकात्म मानववाद का हम गहराई से अनुशीलन करें। इसके आलोक में अच्छे, स्वस्थ, समतामूलक समाज का निर्माण करें।

पंडित जी कहा करते थे कि केवल नारेबाजी से कोई काम नहीं चलेगा। जिस दिन तक उस मानव को, जो ऐसे क्षेत्रों में रहता है जहां आज प्रकाश नहीं है, जहां दरिद्रता और दैन्य का साम्राज्य है, जहाँ उसके पांव की बिवाई फटी हुई है, जिसे जूता पहिनने के लिये प्राप्त नहीं है, जिसे रोग होने पर ओषधि नहीं है, उस निरक्षर, निरुत्साही और किंकर्तव्यविमूढ़ मानव को जब हम एक स्वस्थ और सुन्दर समाज का दर्शन करा सकेंगे—समय जहां अचल खड़ा है, वहां उसे जब हम गति दे सकेंगे, उस समय तक प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को, संवेदनशील व्यक्ति को ऐसे समाज के निर्माण के लिए सतत कार्यरत रहना चाहिए। उसके कार्यों का जो भी कुछ उपास्य है, वह वही दरिद्रनारायण, वही पीड़ित, वही शोषित मानव है, उसके उद्धार के लिये भी उत्तम प्रकार की समाज-रचना विकसित की जानी चाहिए। मैं समझता हूं कि इस तत्त्व को समझने के लिये और अच्छी, स्वस्थ, सबल, योग्य समाज-रचना के लिये एकात्म मानववाद का अनुशीलन, उस पर विचार-विमर्श करना ही शायद उनके प्रति सबसे महत्वपूर्ण श्रद्धांजलि होगी।

भौतिकी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय
(भूतपूर्व संसत्सदस्य)

डा० बाबूलाल फड़िया

भारत में अध्यक्षात्मक शासन-व्यवस्था का औचित्य ?

भारत में संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की गयी है। संसदीय शासन-प्रणाली में कार्यपालिका तथा विधायिका का अभिन्न संबंध होता है और कार्यपालिका विधायिका के प्रति उत्तरदायी होती है।[1] भारत में राष्ट्रपति कार्यपालिका के औपचारिक प्रधान हैं और मंत्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारी। मंत्रिमंडल जिसका नेतृत्व प्रधानमंत्री करता है, लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उसी समय तक पदारूढ़ रह सकता है जब तक कि लोकसभा का उसे विश्वास प्राप्त हो।[2] लोकसभा मंत्रिमंडल के विरुद्ध 'काम रोको प्रस्ताव', अथवा 'अविश्वास-प्रस्ताव', अथवा 'निन्दा-प्रस्ताव' पारित करके उसे त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है।

भारत में संसदीय शासन-प्रणाली : औचित्य—शासन-व्यवस्था के प्रकार का चयन भारत के नवीन संविधान की रचना में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न था। संविधान-निर्मात्री सभा के समक्ष तीन प्रकार की उत्तरदायी (लोकतंत्रात्मक) शासन-प्रणालियों का विकल्प था—स्विस प्रकार की बहुल कार्यपालिका, अमरीकी प्रकार की अध्यक्षीय शासन-प्रणाली तथा ब्रिटिश प्रकार की संसदीय शासन-व्यवस्था। सभा के गैर-कांग्रेसी सदस्य विशेषतया अल्पसंख्यक समुदायों के सदस्य स्विस प्रकार की शासन-व्यवस्था चाहते थे।[3] परन्तु कुछ सदस्य ऐसे भी थे जिन्हें अमरीकी प्रकार की शासन-व्यवस्था पंसद थी।[4] इन सदस्यों का कहना था कि भारत को एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की आवश्यकता है और यह केवल अध्यक्षात्मक कार्यपालिका के अन्तर्गत ही संभव है। इन सदस्यों का एक अन्य तर्क यह भी था कि स्वतंत्र भारत को एक नवीन प्रकार की कार्यपालिका से अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करनी चाहिए और उसे दासता की सूमची विरासत से अपने संबंध-विच्छेद कर लेने चाहिए। किन्तु संविधान-सभा के अधिकांश सदस्य संसदीय कार्यपालिका के पक्ष में थे। इस संबंध में सामान्य भावना को व्यक्त करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि "हम अब तक प्राप्त अनुभव के प्रतिकूल दिशा में नहीं जा सकते।" लम्बे वाद-विवाद के बाद संविधान-सभा में जब संसदीय शासन-प्रणाली के पक्ष में निर्णय लिया गया तो मुख्यतः दो प्रश्न उठाये गये :

प्रथम, लोकतांत्रिक संवैधानिक ढांचे के अन्तर्गत सबल कार्यपालिका किस प्रकार बनायी जा सकती है? द्वितीय, किस प्रकार की कार्यपालिका देश की परिस्थितियों के अनुकूल है?[५] इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्री के० एम० मुंशी ने यह अभिमत प्रकट किया कि "शक्तिशाली एवं लोचपूर्ण सरकार ब्रिटेन में विद्यमान है, क्योंकि कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमंडल में निहित है, जो निम्न सदन के बहुमत पर आधारित है।.....इसके साथ ही हमें इस तथ्य को भूलना नहीं चाहिए कि गत सौ वर्षों में भारतीय सार्वजनिक जीवन इंगलैण्ड की संवैधानिक विधि की परम्पराओं से संचालित होता रहा है। हममें से अधिकांश ने ब्रिटिश शासन प्रणाली को सर्वोत्तम माना है और विगत तीस-चालीस वर्षों में इस देश के शासन में अंशतः उत्तरदायी सरकार का संचालन धीरे-धीरे प्रारम्भ कर दिया गया था। आज भारतीय अधिराज्य एक पूर्णरूपेण संसदीय सरकार के रूप में कार्य कर रहा है। इतने अनुभव के बाद हम परम्परा को तोड़कर नूतन प्रयोग क्यों करें?"[६]

भारत में संसदीय व्यवस्था का क्रियान्वयन : अनुभवात्मक त्रुटियाँ

पिछले तीस वर्षों से भारत का शासन संसदीय ढांचे की लोकतंत्रात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत संचालित हो रहा है। विगत कुछ वर्षों से देश की राजनीति के क्षेत्र में जो कुछ हो रहा है उससे आम जनता का मन भारी क्षोभ, ग्लानि और एक विचित्र-सी खिन्नता से भरता जा रहा है। सार्वजनिक जीवन में नैतिक मूल्यों के अवमूल्यन, राजनीतिक दलों के विघटन और आये दिन दल बदल एवं सरकारों (केन्द्र एवं राज्य) के उलटे जाने के संदर्भ में जो एक प्रमुख सांविधानिक प्रश्न उठाया जा रहा है, वह है--क्या ब्रितानी ढंग की संसदीय प्रणाली भारत के लिये उपयुक्त सिद्ध नहीं हुई है? वस्तुतः भारत की संसदीय प्रणाली में कई कमियां और संस्थानात्मक विकृतियां हैं, जिनका संबंध प्रायः देश में होने वाले विभिन्न आर्थिक-राजनीतिक संकटों से जोड़ा जाता रहा है। कतिपय प्रमुख त्रुटियां इस प्रकार हैं --

प्रथम, सशक्त एवं उत्तरदायी प्रतिपक्ष संसदीय व्यवस्था के संचालन की अपरिहार्य शर्त है, किंतु भारत में सशक्त प्रतिपक्ष का आज तक निर्माण नहीं हो सका। संसदीय लोकतंत्र में परिवर्तन मतों के आधार पर होता है, किंतु हमारे देश में प्रतिपक्ष में बैठने वाले दलों का उद्देश्य सरकार को अस्त-व्यस्त करना और सम्पूर्ण राष्ट्रीय कार्यक्रमों को छिन्न-भिन्न करके सत्ता हथियाना रहा है। **द्वितीय,** राजनीतिक दृष्टि से स्थिर सरकार को अच्छी सरकार माना जाता है, किंतु भारत में राजनीतिक अस्थिरता और अनिर्णयता की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण शक्तिशून्यता की स्थिति उत्पन्न होने लगी है। सन् १९६७ के आम चुनाव के बाद अनेक राज्यों में मिली-जुली सरकारों का गठन हुआ और अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गयी। सन् १९७९ में जनता पार्टी के विघटन से केन्द्र में अस्थिरता का जो सिलसिला चला, उससे संसदीय व्यवस्था को संदेह और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा है। **तृतीय,** संसद और राज्य विधानमंडलों की कार्यप्रणाली का गुणात्मक ह्रास हुआ है, वाद-विवाद का स्तर घटा है। व्यक्तिगत दोषारोपण और छिद्रान्वेषण की बढ़ती हुई प्रवृत्ति के कारण संसदीय मंच का अवमूल्यन हुआ है। कई विधानसभाओं में अध्यक्षों ने दलीय स्वार्थों की पूर्ति का साधन बन कर अध्यक्षीय आसन की गरिमा तक को ठेस पहुंचायी, जिससे संसदीय प्रणाली की अवमानना ही हुई है। डॉ० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के अनुसार, "स्वतन्त्रता के पश्चात् विधायकों की गुणवत्ता में ह्रास होता गया जो चिन्ता का विषय है। दल के जो उम्मीदवार चुने जाते हैं, वे योग्यता के आधार पर नहीं चुने जाते : अधिकतर अत्यन्त साधारण किस्म के उम्मीदवारों का चुनाव होता है। विधायकों में प्रतिभा, विदग्धता और लगन का अभाव पाया जाता है और हमारे सार्वजनिक प्रशासन के गिरते हुए स्तरों का यह एक प्रधान कारण हो सकता है।"[७] **चतुर्थ,** भारतीय संविधान का उद्देश्य था कि संसद् और कार्यपालिका की सत्ता भिन्न रहे, किंतु व्यवहार में उनके कामकाज का विचित्र और अवांछनीय मिलाप हो गया। सिद्धान्ततः जब तक संसद की स्वीकृति हो, मंत्रिमण्डल रह सकता है, किन्तु व्यवहार में मंत्रिमंडल ने संसद् के काम और उसके अधिकार अधिकाधिक मात्रा में हथिया लिये हैं। वर्तमान पार्टी पद्धति, पार्टी अनुशासन एवं दलीय निष्ठा के कारण संसद का दर्जा घटता गया। आज

संसद् केवल सीमित सतर्कता का साधन रह गयी है। **पंचम,** दलबदल की प्रवृत्ति के कारण हमारा पूरा संसदीय वातावरण ही दूषित हो गया है और मूल्यों की राजनीति के स्थान पर सत्तालोलुपता की राजनीति का सूत्रपात हुआ है। दलबदल के कारण केन्द्र और राज्यों में संसदीय सरकार का संचालन खतरे में पड़ा और लोकप्रिय सरकारों के गठन में बाधा आयी। दलबदल के कारण प्रशासन में नौकरशाही का बोलबाला बढ़ा और गरीब जनता पर निर्वाचनों का आर्थिक बोझ लाद दिया गया। दलबदल से जहां शासन में अराजक तत्त्वों का प्रभाव बढ़ा, वहां प्रशासन ठप्प सा हो गया। वस्तुतः दलबदल का रोग एक राष्ट्रीय व्याधि का रूप धारण कर चुका है जो हमारे लोकतंत्र के प्राण-तत्त्वों को अंदर ही अंदर खाये जा रहा है। **षष्ठ,** नैतिक मूल्यों का अनवरत ह्रास हुआ है। अब राजनीति और राजनीतिज्ञों को काफी कुछ संदेह, अनादर और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाने लगा है। किसी भी प्रतिनिधि लोकतंत्रात्मक व्यवस्था में ऐसी स्थिति भयावह है जब जनता के हृदयों में उसके अपने चुने हुए प्रतिनिधियों की ही निष्ठा और ईमानदारी में विश्वास न रहे। **सप्तम,** भारत में राजनीतिक दलों की बहुलता संसदीय शासन के सचारु संचालन में एक बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है। राजनीतिक दलों में परस्पर सहयोग एवं सामंजस्य की भावना का अभाव है जिससे सरकार का गठन करना तक कठिन हो जाता है।

भारत के लिये अध्यक्षात्मक व्यवस्था का प्रतिमान : विकल्प

हाल ही में प्रसिद्ध संविधानशास्त्री नानी पालकीवाला ने लिखा है कि शासन में आवश्यक स्थिरता और दृढ़ता लाने तथा दलबदल जैसी प्रवृत्तियों को रोकने के लिये भारत में अमेरिकी ढंग की राष्ट्रपतीय प्रणाली सबसे सार्थक सिद्ध हो सकती है।[८] प्रसिद्ध उद्योगपति जे० आर० डी० टाटा के अभिमत में देश की समस्याओं का स्वरूप मुख्यतः आर्थिक है तथा उनके समाधान के लिये उच्च स्तर की तकनीक और प्रबंध-कुशलता की आवश्यकता है..... राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में प्रत्यक्ष रूप से चुना गया राष्ट्राध्यक्ष गैर राजनीतिकों तथा प्रबंध-विशेषज्ञों को मंत्री पद पर नियुक्त कर राष्ट्रीय समस्याओं का सरलता से हल खोज सकता है।[९] चतुर्थ जननिर्वाचन के बाद सर्वश्री अशोक मेहता, बलराज मधोक, मधु-लिमये, सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश वी० पी० सिन्हा, चरणसिंह, एम० सी० चागला जैसे लोगों ने अध्यक्षीय शासन-व्यवस्था का भारत के परिप्रेक्ष्य में प्रबल समर्थन किया था। श्री चरणसिंह ने स्वयं कहा था कि "ब्रिटिश ढांचे का संसदीय लोकतंत्र भारतीय स्वभाव के प्रतिकूल है और इसे अध्यक्षीय लोकतंत्र में परिवर्तित कर देना चाहिए।"[१०]

भारत के लिये अध्यक्षीय पद्धति अपनाये जाने के पक्ष में इसके समर्थक निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं : **प्रथम,** इस शासन-प्रणाली में संपूर्ण कार्यपालिका शक्ति एक निर्वाचित राष्ट्रपति में निहित होती है। राष्ट्रपति का कार्यकाल निश्चित होता है और निश्चित समय से पूर्व विधायिका उसे सरलता से हटा नहीं सकती जिससे शासन में स्थायित्व आ जाता है। **द्वितीय,** इस शासन-व्यवस्था में राष्ट्रपति योग्यतम, विशेषज्ञ तथा कुशल प्रशासकों को मंत्रिपद पर नियुक्त करने में सुविधाजनक स्थिति में रहता है। उसे स्वतंत्रता रहती है कि अपने मंत्रिमंडल के सदस्यों को विधानमण्डल के बाहर के लोगों में से भी चुन सके। **तृतीय,** राष्ट्रपतीय व्यवस्था में मंत्रियों का निर्वाचन नहीं होता, अतः उन्हें अपने पद पर बने रहने के लिये सस्ती लोकप्रियता प्राप्त करने के साधन अपनाने की आवश्यकता नहीं रहती। **चतुर्थ,** राष्ट्रपति के मंत्री प्रशासक होते हैं, न कि पेशेवर राजनीतिज्ञ। उनका ध्येय अपने प्रशासनिक विभाग का दक्षतापूर्वक संचालन करना है, न कि दलगत राजनीति में अपनी शक्ति का दुरुपयोग करना। **पंचम,** इस शासन प्रणाली में दलबदल या दल-विभाजन की संभावना नहीं रहती, क्योंकि विधायिका के सदस्य जानते हैं कि दलबदल करने से मंत्रिपद प्राप्त करने की कोई संभावना नहीं है। **षष्ठ,** अध्यक्षीय प्रणाली में 'राष्ट्रपति' के निर्वाचन के प्रश्न को लेकर राष्ट्रीय स्वरूप एवं दृष्टिकोण वाले दलों का विकास सहज हो जाता है। **सप्तम,** प्रशासन का संपूर्ण दायित्व राष्ट्रपति के कंधों पर होने के कारण इस शासन-प्रणाली में शीघ्र निर्णय लिये जा सकते हैं। संकटकालीन परिस्थितियों में तुलनात्मक दृष्टि से अध्यक्षात्मक सरकार अधिक सक्षम तथा प्रभावशाली

होती है।[११]

शासन के अमरीकी और फ्रेंच प्रतिमान (मॉडल)

राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली की चर्चा करते हुए मोटे रूप से इस समय दो प्रतिमान (मॉडल) हमारे सामने हैं—अमरीकी राष्ट्रपतीय व्यवस्था और फ्रेञ्च राष्ट्रपतीय व्यवस्था।

अमरीकी राष्ट्रपतीय मॉडल की विशेषताएं हैं—**प्रथम**, कार्यपालिका, व्यवस्थापिका व न्यायपालिका का एक दूसरे से पृथकत्व तथा हर एक का अनन्य अधिकार-क्षेत्र होना। **द्वितीय**, मंत्रिमण्डल का राष्ट्रपति के पूर्णरूप से अधीन रहना। **तृतीय**, राजनीतिक व्यवस्था में शक्ति-केन्द्र का अभाव होना। **चतुर्थ**, कार्यपालिका व्यवस्थापिका से पृथक् होने के कारण उसके प्रति उत्तरदायी नहीं रहती, प्रत्युत् संविधान के प्रति उत्तरदायी होती है। **पंचम**, राष्ट्रपति न तो विधानमण्डल को भंग कर सकता है और न ही उसे अवपीड़ित या बाध्य कर सकता है। परन्तु यह सब सैद्धान्तिक व्यवस्था है। वर्तमान समय में ही नहीं, पहले भी कभी इस तरह का शासन-संगठन व्यवहार में नहीं रहा है। अमरीकी संविधान-निर्माता इस तथ्य से भलीभांति परिचित थे कि शक्तियों के पूर्ण पृथक्करण से सरकार के तीनों अंगों में गतिरोध व विरोध ही उत्पन्न होंगे तथा शासन-व्यवस्था बार-बार ठप्प होती रहेगी। इसलिये उन्होंने नियंत्रण व संतुलन के सिद्धान्त को शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त के साथ जोड़ कर अमरीका की शासन-व्यवस्था का सृजन किया। आज व्यवहार में अमरीका में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का अनवरत सम्पर्क बढ़ता जा रहा है। मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति का सेवक न रह कर सहयोगी बनता जा रहा है। राजनीतिक व्यवस्था में राष्ट्रपति पद शक्ति-केन्द्र के रूप में अवतरित हो रहा है। राजनीतिक दलों के विकास ने अध्यक्षात्मक व्यवस्था के शक्ति-पृथक्करण को केवल सैद्धान्तिक रूप में ही रख दिया है। आज व्यवहार में अमरीकी मॉडल शक्ति के पृथक्करण को एक सीमा तक ही अंगीकृत करता है और उस सीमा के आगे शक्ति की साझेदारी स्थापित करता है। राबर्ट सी० बोन के शब्दों में, "अध्यक्षात्मक व्यवस्था के बारे में यह कहना अधिक सही है कि यह शक्तियों के पृथक्करण के स्थान पर शक्ति या सत्ता की साझेदारी या सत्ता की परस्पर मिश्रितता (Intermingling) की अवधारणा पर आधारित है।"[१२]

विश्व के प्रमुख देशों में फ्रान्स का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। दूसरे विश्व-युद्ध तक तो फ्रान्स की गिनती संसार की कुछ महान शक्तियों में थी। अब भी फ्रान्स पांच बड़ी शक्तियों में से एक है। यूरोप में सोवियत संघ के बाद क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से फ्रान्स का स्थान दूसरा है। फ्रान्स के चतुर्थ गणतंत्र (संविधान) में कई दोष रहे, जिससे शासन में अस्थिरता आ गयी, कार्यपालिका अशक्त बनी रही और विधायिका के प्रथम सदन को आवश्यकता से अधिक शक्तियां प्राप्त हो गयीं। विधायिका के सहयोग के लिये निर्मित समितियों ने अपने सीमा-क्षेत्र से भी अधिक अधिकारों का प्रयोग किया, जिससे अनुशासनहीनता में वृद्धि हुई। सन् १९५८ में डिगाल प्रधानमंत्री बने और उन्होंने यह कहना आरम्भ किया कि फ्रांस की स्थिरता के लिये राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण नये सिरे से होना चाहिए। सरकार ऐसी होनी चाहिए, जो शासन कर सके; संसद् ऐसी हो कि राष्ट्र की राजनीतिक इच्छा का प्रतिनिधित्व कर सके तथा कार्यपालिका पर नियंत्रण रख सके; सरकार व संसद् ऐसी हों, जो मिल कर काम कर सकें। इस तरह पांचवें गणतंत्र (संविधान) की रचना का आधार तैयार किया गया।

फ्रान्स के पांचवें संविधान की कुंजी है—स्थिरता और प्राधिकार (Stability and authority)। इसका ध्येय चतुर्थ गणतंत्र के मंत्रिमण्डलीय अस्थायित्व तथा शासन की शिथिलता को दूर करना है। इसमें कार्यपालिका को विधायिका से पृथक् करने का प्रयास किया गया है। राष्ट्रपति का निर्वाचन संसद द्वारा न होकर एक निर्वाचक-मण्डल द्वारा होता है।[१३] राष्ट्रपति को अनेक वैयक्तिक अधिकार दिये गये हैं, जिनका प्रयोग वह स्वविवेक से करता है तथा जिनसे संबंधित आदेशों पर मंत्रियों के हस्ताक्षर की आवश्यकता नहीं है।[१४] राष्ट्रपति ही मंत्रिमंडल तथा प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है।[१५] मंत्रियों को संसद् की

सदस्यता से वंचित किया गया है, किन्तु उन्हें संसद् के प्रति उत्तरदायी बना दिया गया है। प्रधानमंत्री की सलाह से राष्ट्रीय सभा को भंग करने का अधिकार राष्ट्रपति को दिया गया है। राष्ट्रपति को आपातकालीन शक्तियां दी गयी हैं, जिसका निर्णायक वह स्वयं है। नये संविधान द्वारा व्यवस्थापिका के दोनों सदनों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है। प्रथम सदन अर्थात् राष्ट्रीय सभा की शक्ति कम हुई है और द्वितीय सदन—सीनेट की शक्ति बढ़ी है।

वस्तुतः जहाँ चतुर्थ गणतंत्र में राष्ट्रपति मात्र एक सच्चा दलाल था, वहाँ पंचम गणतंत्र में सांविधानिक यंत्र का निर्णायक हो गया है। वह राष्ट्र का वास्तविक अध्यक्ष, राष्ट्र का प्रतीक, शासन का प्रमुख और राष्ट्रीय पंच के तुल्य बना दिया गया है, जबकि प्रधानमंत्री राष्ट्रपति का एजेन्ट सा बन गया है। प्रधानमंत्री का पद अनावश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि न तो उसके पास शक्ति है और न प्रतिष्ठा। फ्रेन्च राजनीतिक व्यवस्था के बारे में ब्रोगन का यह कथन महत्वपूर्ण है कि 'वह न तो अमरीकी ढंग का अध्यक्षात्मक संविधान है और न अंग्रेजी ढंग का संसदात्मक संविधान ही, वह तो दोनों का मिश्रण है।'

संक्षेप में, पंचम गणतंत्र का मुख्य उद्देश्य मंत्रिमण्डलीय अस्थिरता को दूर करना था, क्योंकि इससे पूर्व फ्रेन्च मंत्रिमण्डल का औसत जीवन-काल नौ मास से भी कम होता था। चतुर्थ गणतंत्र में १९४६ से १९५८ तक २३ मंत्रिमंडल बने और बिगड़े, जिनकी औसत आयु मात्र छै महीने की रही।

भारत के लिये फ्रेंच मॉडल की उपयुक्तता ?

भारत जैसे विकासशील देशों के लिये अमरीकी प्रतिमान (मॉडल) की अपेक्षा फ्रेन्च मॉडल एक विकल्प प्रस्तुत करता है और विकासशील देशों में इसके अनुकरण की अधिक संभावनाएं हैं।[१५] अमरीकी व्यवस्था की कई दुर्बलताएं हैं, जिन्हें भारतीय संदर्भ में पचाना संभव नहीं होगा। शक्तियों के पृथक्करण के कारण अमरीकी व्यवस्था में शक्ति और उत्तरदायित्व का ऐसा विभाजन हो जाता है कि शासन-नीति और कार्यों के लिये किसी का निश्चित उत्तरदायित्व नहीं रह पाता। अमरीकी शासन-व्यवस्था में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका का विरोध उस अवस्था में असाध्य हो जाता है जब राष्ट्रपति पद पर और सीनेट में अलग-अलग दलों का प्रभुत्व हो। यह व्यवस्था संसदीय प्रणाली की भांति लचीली तथा परिवर्तनशील भी नहीं है। भारत में जब लोग राष्ट्रपतीय प्रणाली की बात करते हैं तो शायद उनके मस्तिष्क में अमरीकी ढांचे की सरकार का चित्र घूमता होगा। किंतु प्रो० लास्की जैसे विद्वान ने कहा है कि अमरीका में अध्यक्षीय शासन-प्रणाली की सफलता का कारण यथार्थ में उसके गुण नहीं हैं, प्रत्युत् उसकी त्रुटियां रही हैं। फिर हम सभी इस बात से परिचित हैं कि अमरीकी राष्ट्रपतीय मॉडल लेटिन अमेरिका के कई देशों में असफल सिद्ध हो चुका है। ऐसी स्थिति में इस बात का क्या प्रमाण है कि भारत में अमरीकी मॉडल के लोकतंत्र का परीक्षण किया गया तो वह सफल हो जायेगा ? फिर अमरीकी मॉडल में जहाँ एक ओर राष्ट्रपति के निरंकुश बनने का भय रहता है, वहीं दूसरी ओर कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच, एवं न्यायपालिका और कार्यपालिका के बीच संघर्ष की स्थिति भी पैदा हो जाती है। अमेरिका में भी आज कहीं-कहीं इस बात की मांग की जा रही है कि अध्यक्षीय ढांचे में ऐसे संशोधन किये जायें कि वह 'मंत्रिमण्डलीय सरकार' के अनुरूप कार्य कर सके।[१७]

इस समय भारतीय व्यवस्था के सामने दो मुख्य चुनौतियां हैं—प्रथम, केन्द्र और राज्यों में मिली-जुली सरकारें बनने की संभावनाएं हैं और मिली-जुली सरकारों से अस्थिरता का दौर प्रारम्भ होगा। द्वितीय, दलबदल के कारण राजनीतिक अस्थिरता के युग का सूत्रपात होगा और प्रशासन में 'शून्यता' आ जायेगी। भारत में राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई संख्या एवं क्षेत्रीय दलों की बढ़ती हुई शक्ति के परिप्रेक्ष्य में मिली-जुली सरकारें ही भविष्य की थाती दिखायी देती हैं। दलबदल पर अंकुश लगाने की चाहे कितनी ही चर्चा की जाये, किन्तु कोई भी संसद्सदस्य दलबदल रोकने वाले विधेयक का सच्चे मन से समर्थन करके अपनी स्वतन्त्रता पर प्रतिबंध लगवाना क्योंकर पसंद करेगा ?

भारत की राजनीतिक विरासत की यह विशेषता है कि वह ऐसे किसी भी सांविधानिक प्रतिमान को पसंद कर लेगी, जिसमें स्थायित्व व उत्तरदायित्व को मिलाने का प्रयत्न किया गया हो। फ्रेञ्च मॉडल की यह विशेषता है कि उत्तरदायित्व की व्यवस्था करने के लिये संविधान गणतंत्रात्मक संसदीय शासन स्थापित करता है तथा कार्यपालिका के स्थायित्व के लिये अध्यक्षीय शासन को संसदीय शासन पर प्रतिरोपित कर देता है।[१८]

क्या भारत के लिये फ्रेंञ्च मॉडल अपनाना सरल होगा? यह कहा जाता है कि भारत जैसे देश में अनेक प्रादेशिक, भाषाई, साम्प्रदायिक तथा अन्य प्रकार के दबावों-तनावों के कारण ऐसे किसी व्यक्ति (राष्ट्रपति) की खोज कठिन हो सकती है, जिसे समूचे राष्ट्र का सम्मान प्राप्त हो।

भारत में संसदीय प्रणाली की क्षमताएं

डा० अप्पादोराय के अभिमत में वर्तमान संसदीय व्यवस्था को नष्ट करके नया भवन बना लेने से ही भारतीय लोकतंत्र की ज्वलन्त समस्याएं हल नहीं हो जायेंगी। सच्चाई यह है कि वर्तमान संसदीय प्रणाली से तीन स्पष्ट लाभ हमें उपलब्ध हो रहे हैं—प्रथम, भारत जैसे विशाल विविधता वाले देश में मंत्रिमंडल द्वारा विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व हो रहा है। द्वितीय, मंत्रिमंडल विधान-मण्डल को नेतृत्व प्रदान करता है और तृतीय, सरकार लोकमत के प्रति उत्तरदायी बनी रहती है।[१९]

यदि हम अपनी शासन-प्रणाली में कोई आधारभूत परिवर्तन की बात सोचे बिना ही युगीन परिस्थितियों और देश की सामयिक आवश्यकताओं के अनुरूप उसकी विकृतियों को दूर करने का प्रयत्न करें जिससे कि उसे अधिक सार्थक रीति से कार्यान्वित किया जा सके और वह अपेक्षाकृत अधिक स्थायित्व की वाहक बन सके तो विवेकजन्य पग होगा। इस संबंध में चार मोटे सुझाव दिये जा सकते हैं—प्रथम, संसद के निम्न सदन के प्रति मंत्रिमंडल के सामूहिक उत्तरदायित्व का सिद्धान्त रखते हुए भी हम उपर्युक्त विधि द्वारा या लोकसभा के प्रक्रिया-नियमों में परिवर्तन करके यह निर्धारित कर सकते हैं कि मंत्रिमण्डल का कुछ न्यूनतम कार्यकाल होगा। जब किसी मंत्रिपरिषद् का एक बार विधिवत् निर्माण हो जाये तथा सदन का बहुमत उसे स्वीकार कर ले, तब एक निश्चित समय तक—उदाहरण के लिए दो वर्ष तक—उसे 'अविश्वास-प्रस्ताव' या ऐसे ही अन्य उपायों द्वारा अपदस्थ नहीं किया जा सकेगा।[२०] यदि अन्य किसी सरकारी प्रस्ताव पर सरकार की पराजय हो जाये तो उसे अविश्वास-प्रस्ताव नहीं समझा जाना चाहिए और इसके कारण सरकार को त्यागपत्र देने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इस संबंध में वैकल्पिक या पूरक व्यवस्था यह हो सकती है कि दो वर्ष की इस अवधि में मंत्रिमंडल को अपदस्थ करने के लिये दो-तिहाई बहुमत आवश्यक हो। इससे मंत्रिमंडल में स्थिरता के तत्त्व का समावेश हो जायेगा।[२१] द्वितीय, संसदीय समितियों द्वारा विशेषज्ञों की नियमित सहायता लिये जाने की कारगर व्यवस्था विकसित करनी चाहिए तथा विषय संबंधी विशिष्ट संसदीय समितियों की पद्धति को अपनाया जाना चाहिए। ततीय, संसद या विधान-सभाओं के जो सदस्य स्वेच्छा से अपना दल छोड़ना चाहते हैं, उन्हें विधायिका की सदस्यता से भी पथक् समझा जाये अथवा दलबदल करने वाले विधायक को एक वर्ष के लिये अथवा जब तक वह अपने स्थान से पद त्याग कर पुनः निर्वाचित नहीं हो जाता, मंत्रिपद या किसी अन्य ऐसे पद पर नियुक्त नहीं किया जाना चाहिए, जिस पद के वेतन और भत्ते भारत की अथवा राज्य की संचित निधि से अदा किये जाते हैं। चतुर्थ, केन्द्र तथा राज्यों में मंत्रिपदों की संख्या विधि द्वारा न्यूनतम कर दी जानी चाहिए। इसके फलस्वरूप मंत्रिपदों के लिये दलबदल की घटनाएं कम हो जायेंगी, प्रशासन में मितव्ययिता आयेगी और सरकारें अधिक स्थायी हो सकेंगी।

निष्कर्षतः वर्तमान व्यवस्था को नष्ट करके नयी व्यवस्था अपना लेने से ही हमारे देश की समस्याओं का समाधान नहीं हो जायेगा। डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी ने ठीक ही लिखा है कि "हमारी संसदीय लोकतंत्रीय व्यवस्था में कई कमियां और कुछ संस्थानात्मक विकृतियां हैं। किन्तु एक व्यापक सर्वेक्षण की दृष्टि से देखें तो कमियां व्यवस्था में इतनी नहीं, बल्कि हम लोगों में हैं जो इस व्यवस्था के लिये उत्तरदायी हैं। प्रायः जब हम संसदीय

लोकतांत्रिक व्यवस्था को दोष देते हैं तो उस कहावत को चरितार्थ करते हैं कि 'नाच न जाने आंगन टेढ़ा ।'[२२] हमारी संसदीय व्यवस्था संक्रमणकालीन संकटों के कठिन दौर को पार कर रही है, जिनसे निराश और हताश होने का कोई कारण नहीं है । यदि हममें और हमारे राजनीतिज्ञों में त्याग और सेवा की भावनाएं विकसित हो जायें तो कोई कठिन नहीं कि लड़खड़ाता संसदीय लोकतंत्र परिपक्व व्यवस्था के रूप में उभरेगा ।

स्नातकोत्तर राजनीतिविज्ञान विभाग,
राजकीय महाविद्यालय, डूंगरपुर (राजस्थान)

संदर्भ :

१. डी० वी० वर्ने, दि ऐनालिसिस ऑफ पालिटिकल सिस्टम्स (लंदन, १९५९) पृ० १३७
२. भारतीय संविधान–अनुच्छेद ७५
३. कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खंड VII, पृ० २९६
४. उपर्युक्त, पृ २८४
५. एम० वी० पायली, कान्सटीट्यूशनल गवर्नमेण्ट इन इंडिया (एशिया, बम्बई, १९७७), पृ० ३७५
६. कान्स्टीट्यूएण्ट असेम्बली डिबेट्स, खंड VII, पृ० ९८४
७. डा० लक्ष्मीमल्ल सिंघवी, 'भारतीय संसद—नयी दृष्टि', लोकतंत्र समीक्षा, जुलाई-सितम्बर १९७१, पृ० १५
८. एन० ए० पालकीवाला, 'हैज दि कान्स्टीट्यूशन फेल्ड ?', दि इलेस्ट्रेटेड वीकली आफ इण्डिया (नयी दिल्ली), सितम्बर १६, १९७९, पृ० ६–९
९. राजस्थान पत्रिका (जयपूर), अक्तूबर २०, १९७९, पृ० १
१०. दिनमान (नयी दिल्ली), अगस्त १२, १९७४, पृ० ४६–४७
११. सी० एफ० स्ट्रांग, आधुनिक राजनीतिक संविधान (हिन्दी अनुवाद), पृ० २२५–२९
१२. राबर्ट सी० बोन, एक्शन एण्ड आर्गेनाइजेशन : एन इन्ट्रोडक्शन टू कन्टम्परेरी पॉलिटिकल साइंस (लंदन, १९७२), प० ३१०
१३. दि फ्रेञ्च कान्स्टीट्यूशन—अनुच्छेद ६
१४. उपर्युक्त—अनुच्छेद १९
१५. उपर्युक्त—अनुच्छेद ८
१६. श्रीलंका ने जयवर्द्धन के नेतत्व में संसदीय व्यवस्था के स्थान पर ऐसा ही मॉडल अपनाया है ।
१७. डा० बाबूलाल फड़िया, भारतीय सरकार एवं राजनीति (सरस्वती सदन, नयी दिल्ली, १९७७) पृ० ७०९
१८. प्रेमशंकर झा, 'प्रेसिडेन्टियल सिस्टम हैज मेनी स्नेग्स,' दि टाइम्स आफ इंडिया, (नयी दिल्ली), सितम्बर, ११, १९७९
१९. दि हिन्दुस्तान टाइम्स, अप्रैल २८, १९६८
२०. डा० सुभाष काश्यप, 'भारतीय संविधान की क्षमताएं,' दिनमान, जुलाई २६, १९७०, पृ० २९
२१. यदि 'लोकसभा कार्य-संचालन तथा प्रक्रिया-नियमावली' में जहाँ यह कहा गया है कि एक 'सत्र' में एक से अधिक बार अविश्वास प्रस्ताव नहीं आ सकता, वहां संशोधन द्वारा 'सत्र' के स्थान पर 'दो वर्षों की अवधि' शब्द रख दिये जायें तो विधान बनाना भी आवश्यक नहीं होगा ।
२१. दिनमान, अगस्त १२, १९७३, पृ० ४४

देवीप्रसाद सिंह

प्राचीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया

सामाजिक परिवर्तन व्यष्टि और समष्टि की पारस्परिक अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप होता है।[1] यह सामाजिक अन्तःक्रिया सहयोग, व्यवस्थापन[2], सात्मीकरण[3], प्रतिस्पर्धा[4], संघर्ष[5] एवं प्रतिकूलता[6] आदि से होती है। सामाजिक परिवर्तन अपने अर्थ-विस्तार तथा अर्थ-संकोच के कारण अनेक अवधारणाएं समेटे हुए है। डेविस ने सामाजिक परिवर्तन के रूप में केवल उन संशोधनों को स्वीकारा है, जो सामाजिक संगठन में हुआ करते हैं। सामाजिक संगठन से उनका तात्पर्य समाज के ढांचे तथा कार्यों से है।[7] इसी प्रकार जोन्स, गिलिन एण्ड गिलिन, मेकाइवर तथा पेज एवं मैरिल प्रभृति समाजशास्त्रियों ने भी सामाजिक परिवर्तन की अवधारणाओं को परिभाषित किया है। सामाजिक, परिवर्तन के कारणों में अनेक बाह्य एवं आंतरिक दशाएं स्वीकारी गयी हैं। उदाहरणार्थ समाज-वैज्ञानिकों ने सामाजिक परिवर्तन की दिशा में भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारकों की चर्चा की है। सामाजिक परिवर्तन की यह प्रक्रिया प्राचीन विश्व-समाज में सर्वत्र समान रूप से लागू नहीं होती। भारतीय समाज के प्राचीन संदर्भों में धार्मिक एवं सांस्कृतिक कारक अन्यों से अधिक मुखर रहे हैं। इसी संदर्भ में प्राचीन भारतीय समाज की परिवर्तन-प्रक्रिया का संक्षिप्त सर्वेक्षण अनुलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत है।

वर्णाश्रम-धर्म एवं परिवर्तन की प्रक्रिया

प्राचीन भारतीय समाज का मूलाधार वर्णाश्रम था। परन्तु यह व्यवस्था सदैव कठोर तथा स्थायी नहीं रही। प्राचीन भारतीय विचारकों ने वर्ण-व्यवस्था के आधार के रूप में गुण-कर्म के सिद्धान्त को स्वीकारा, जिसके अन्तर्गत वर्ण-परिवर्तन की नमनीय व्यवस्था थी। ऐतरेय ऋषि दासी-पुत्र थे, किन्तु अपने गुण-कर्म के द्वारा ऋषित्व के अधिकारी हुए। ऐतरेय ब्राह्मण एवं ऐतरेय उपनिषद् आदि ग्रन्थों की रचना का श्रेय उन्हें दिया गया है। इसी प्रकार कवष ऐलूष भी दासी-पुत्र थे, जिन्हें ऋषियों ने यज्ञ से बहिष्कृत किया था, परन्तु कालान्तर में उन्होंने श्रुति का अध्ययन कर श्रेष्ठता प्राप्त की, तब ऋषियों ने उन्हें सादर आमंत्रित कर अपना आचार्य स्वीकारा एवं यज्ञाधिकार प्रदान किया।[8] नाभाग

क्षत्रिय से वैश्य हो गये थे। शौनक ऋषि के पिता शुनक के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी वर्णों के पुत्र थे। महाभारत-शल्य पर्व[९] से ज्ञात होता है कि राजर्षि सिन्धुद्वीप महातपस्वी देवर्षि तथा मुनि विश्वामित्र क्षत्रिय से ब्राह्मण हो गये। इससे सामाजिक परिवर्तन में वर्ण-व्यवस्था भारतीय सामाजिक जीवन को श्रेष्ठतर जीवन में परिवर्तित करने के लिये प्रख्य थी।

सांस्कृतिक कारक

प्राचीन भारतीय समाज में शुद्धिकरण की प्रक्रिया भी प्रचलित थी, जिसे कुछ विद्वानों ने हिन्दूकरण अथवा भारतीयकरण माना है। भारतीय संस्कृति प्रकाशमयी सस्कृति है।[१०] निरंतर संस्कारों द्वारा व्यष्टि एवं समष्टि को शुद्ध करके उसके व्यक्तित्व में महानता एवं पवित्रता का आरोप करना संस्कृत करने की प्रक्रिया है। भारतीय ऋषियों ने सामाजिक परिवर्तन के कारकों में सांस्कृतिक कारकों को महत्वपूर्ण माना। प्राचीन भारतीय आर्यों ने वैदिक परम्परा के अन्तर्गत अवैदिक जनजातियों को संस्कृतीकरण के माध्यम से ही आत्मसात किया। ऋग्वेद के काल से ही संस्कृतीकरण की यह प्रक्रिया स्पष्ट है।[११] कालान्तर में इस प्रक्रिया के लिये संस्कार, शुद्धिकरण, प्रायश्चित आदि अनेक मार्गों का अवलम्ब किया गया। यह प्रक्रिया यज्ञ, योग, पूजा, गंगाजल, अनुष्ठान, ऋषिवचन, व्रत-उपवास, यज्ञोपवीत, शिखाधारण आदि अनेक माध्यमों से की गयी। यवन, शक, गुर्जर, जट्ठ, आभीर, हूण, अरब, तुर्क आदि कितनी ही जातियां भारत में आयीं तथा संस्कृतीकरण के माध्यम से क्रमशः विशाल हिन्दू समाज में घुल-मिल गयीं। यह परिवर्तन प्राचीन भारत में संस्कृतीकरण की अन्तः प्रक्रिया के माध्यम से हुआ। श्रीमद्भागवत् में उल्लेख है कि किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कंक, यवन आदि जातियों का परिवर्तन भारतीय जाति में शुद्धिकरण की प्रक्रिया द्वारा हुआ।[१२] कालान्तर में अपने श्रेष्ठ साहस, वीरता एवं गुण-कर्मों के द्वारा भारतीय एवं विदेशी जातियां भी राजपूतों के रूप में श्रेष्ठता प्राप्त कर सकीं। अनेक इतिहासकारों ने राजपूतों की विदेशी उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हुए विदेशियों के शुद्धिकरण एवं भारतीयकरण की प्रक्रिया का अनुमोदन किया है। 'पृथ्वीराजरासो' में आबू पर्वत पर होने वाले यज्ञ से उत्पन्न राजपूत राजवंशों की जो चर्चा है, उसे स्मिथ, टाड आदि विदेशी[१३] तथा भंडारकर आदि स्वदेशी[१४] विद्वानों ने यज्ञ के माध्यम से विदेशियों की शुद्धिकरण का ही प्रतीकात्मक विवरण माना है। यदि अग्निकुल के मिथक में इस प्रकार का ऐतिहासिक सत्य सन्निहित है तो यह संस्कृतीकरण का एक महत्वपूर्ण उदाहरण है। वस्तुतः यह तथ्य भारतीय संस्कृति की गत्यात्मकता एवं पुट पाचन-शक्ति का परिचायक है।

धार्मिक कारक

प्राचीन भारतीय संस्कृति प्रारम्भ से ही धर्माधृत रही। पूर्ववैदिक युग में एकेश्वरवाद, बहुदेववाद, विशिष्ट देववाद एवं प्रकृतिदेववाद आदि धार्मिक विश्वास विभिन्न सामाजिक स्तरों में प्रतिष्ठित थे।[१५] क्रमशः ब्राह्मण-युग में यज्ञवाद तथा उपनिषदों में ब्रह्मवाद को लोकप्रियता मिली[१६]। किन्तु ई० पू० छठी सदी तक वैदिक धर्म के प्रतिक्रियास्वरूप अवैदिक बौद्ध एवं जैन धर्मों का उदय हुआ। इन धार्मिक कारकों ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया और वेश-भूषा, अलंकार, खान-पान, परिवार, विवाह, व्रत-त्यौहार, परम्परा, प्रथा, शव-विसर्जन आदि सभी पक्षों में परिवर्तन किया। बौद्ध एवं जैन धर्मों ने सामाजिक धरातल पर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता तथा वर्गगत भेदभाव को अस्वीकार किया तथा संसार को दुःखमय घोषित करते हुए गृहस्थ जीवन की तुलना में संन्यास को वरीयता दी। सम्पूर्ण समाज के अंतर्गत एक निवृत्तिमार्गी भावना बलवती हुई, जिसने सामाजिक जीवन को ही नहीं अपितु साहित्य, भाषा, लिपि, कला, राजनीतिक व्यवस्था में भी परिवर्तन किया। निवृत्तिमार्गी बौद्ध एवं जैन जीवन-दर्शन से प्रभावित क्षेत्रों में गणतंत्रात्मक राज्यों का उदय हुआ।

बौद्ध धर्म के इस क्रान्तिकारी आन्दोलन ने ब्राह्मण धर्म एवं ब्राह्मण संस्कृति के लिये भारी संकट उत्पन्न कर दिया, जिससे बचाव के लिये ब्राह्मण धर्म के अंतर्गत भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। ये परिवर्तन नये धार्मिक सम्प्रदायों के प्रस्फुटन में दिखायी देते हैं। इस सन्दर्भ में वैष्णव सम्प्रदाय का उदय विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

कालान्तर में विदेशी सम्पर्क के कारण भी वैष्णव धर्म में नये तत्त्व समाहित हुए। अलकजैंड्रिया विश्वविद्यालय के एक स्नातक यवनाचार्य ने वैष्णव धर्म की मान्यताओं में परिवर्तनकारी सहयोग दिया। बेसनगर अभिलेख से ज्ञात होता है कि यवन राजदूत हैलियोडोरस ने विदिशा में आकर वैष्णव धर्म स्वीकार किया था। वैष्णव धर्म की भक्ति-शाखा सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम है। भक्ति-आन्दोलन के माध्यम से वैदिक यज्ञकर्म से बहिष्कृत शूद्रों को हिन्दू धर्म के प्रति आस्थावान रखने तथा बौद्ध एवं जैन धर्मों से विमुख करने का प्रयत्न किया गया। भक्ति-आन्दोलन का जन्म पुराणों के अनुसार दक्षिण में हुआ। भक्ति स्वयं कहती है कि मैं द्रविण देश में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बढ़ी, थोड़ा-थोड़ा महाराष्ट्र में भी बढ़ी और गुजरात में आकर वृद्धा हो गयी।[१७] दक्षिण भारत के ही विष्णुस्वामी, रामानुजाचार्य, निम्बार्क स्वामी तथा वल्लभाचार्य आदि अनेक साधु-सन्तों ने वैष्णव धर्म के प्रचार एवं प्रसार में योगदान दिया, इनमें अनेक शूद्र एवं हीनकुलोत्पन्न थे।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में शैव धर्म का भी यथेष्ट योगदान रहा है। सैन्धव सभ्यता में प्रचलित लिंग-पूजा अवैदिक थी। कालान्तर में वैदिक रुद्र शिव की उपासना के साथ इसका सामंजस्य हुआ। सामाजिक क्षेत्र में सैन्धव शिव एवं वैदिक विष्णु के तादात्म्य ने आर्यों एवं आर्येतरों के बीच समन्वय एवं एकीकरण के लिये सुस्थिर आधार प्रस्तुत किया। अवैदिक 'पूजा' शब्द भारतीय धार्मिक जीवन में सर्वाधिक पूजनीय हो गया। पूजा-पद्धति के अंतर्गत धूप, दीप, नैवेद्य, अक्षत, चन्दन आदि का उपयोग धार्मिक उपासनाओं में प्रारम्भ हुआ। धार्मिक प्रव्रजकों ने 'स्वामी' शब्द स्वीकारा, जो शक भाषा के मुरुण्ड शब्द के अनुवाद के रूप में प्रचलित और स्वीकार हुआ। इसी प्रकार आमिष और निरामिष का पार्थक्य धर्मों के कारण ही सामाजिक जीवन में प्रचलित हुआ, जो बौद्ध एवं जैन धर्मों द्वारा अहिंसा के महत्व के प्रतिपादन का परिणाम था।

आर्थिक कारक

आधुनिक चिन्तकों में कार्लमार्क्स तथा एञ्जिल्स ने मानव-समाज के दीर्घकालीन इतिहास को आर्थिक आधार पर प्रस्तुत किया है। उनके चिन्तन का निष्कर्ष है कि उत्पादन की पद्धति में परिवर्तन होने से उत्पादन की शक्तियों में परिवर्तन होता है और इससे उत्पादन के संबंधों में परिवर्तन होकर सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया चलती है[१८]। इसी प्रकार वेबलन ने प्रायोगिकीय परिवर्तन की गति की अनुमति से सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन को स्वीकारा है।[१९] प्राचीन भारतीय विचारकों ने भी पुरुषार्थों के अन्तर्गत आर्थिक कारकों को महत्व दिया है। किन्तु मार्क्स का चिन्तन एकांगी है और भारतीय विचारकों का चिन्तन सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। मार्क्स एवं एञ्जिल्स सामाजिक परिवर्तनों का एकमात्र कारक आर्थिक परिस्थितियों को मानते हैं, जबकि भारतीय दृष्टि आर्थिक कारकों को अनेक अन्य कारकों के पूरक रूप में। यद्यपि वैदिक कालीन भारतीय समाज आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में था, तथापि निश्चय ही आर्थिक कारकों ने प्राचीन भारतीय सामाजिक परिवर्तन को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया। ग्राम्य अर्थ-व्यवस्था की विभिन्न स्थितियों की झांकी वेदों में प्राप्त होती है। प्रथम स्थिति में आर्य पर्यटनशील प्रवृत्ति के थे, जिसमें पशुपालन की प्रमुखता थी। परिवर्तन की द्वितीय स्थिति में आर्य स्थिर निवासी हो गये थे और पशुपालन के अतिरिक्त कृषि कर्म आर्थिक जीवन का मूलाधार बन चुका था। कालान्तर में उद्योग भी विकसित हुए। इन्हीं व्यवसायों से उपजातियों का रूप स्थिर हुआ। ऋग्वेद में तक्षा, विषक, कर्मार आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है।[२०] अथर्ववेद में प्रयुक्त होने वाले रथकार, कर्मार और सूत[२१] तथा तैत्तिरीय संहिता में आने वाले कुलाल, कर्मार, पुंजिष्ठ, निषाद, रथकार, धान्यकृत आदि शब्द भी विशेष व्यवसायों के द्योतक हैं।[२२] इन शब्दों का प्रयोग वाजसनेयी संहिता और काठक संहिता में भी हुआ है। इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में भी विविध व्यावसायिक शब्दों का प्रयोग परिवर्तित आर्थिक संगठन की उन्नत दशा का बोध कराता है, जिसके परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक वर्गों का उदय हुआ।

वैदिक युग की समाप्ति से लेकर मगध साम्राज्य के उदय तक का काल विशेष आर्थिक परिवर्तन के लिये प्रसिद्ध है।

इसी काल के अंतिम चरण में भारत का संबंध पश्चिमी एशिया के देशों से स्थापित हुआ। इसी काल में सर्व-प्रथम व्यावसायिक संगठनों का उदय हुआ, जिनमें श्रेणी, पूग, गण आदि उल्लेखनीय हैं और शिल्प, उद्योग तथा व्यवसाय आदि क्षेत्रों में स्थानीकरण की भावना बलवती हुई। धातु-मुद्राओं के प्रचलन ने तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था में एक क्रान्ति पैदा कर दी। नागरिक जीवन के विकास के साथ सार्थवाहों तथा श्रेणी-समूहों का महत्व बढ़ा। विविध व्यवसायों तथा वाणिज्य के विकास के कारण व्यक्तिगत श्रम की प्रतिष्ठा बढ़ी तथा इस स्वार्जित सम्पत्ति ने व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना को बल प्रदान किया। यह स्पष्टतः सामूहिक श्रमापेक्षी पशुपालन और कृषि पर आधृत वैदिक अर्थ-व्यवस्था से हटकर होने वाला एक परिवर्तन था। वाणिज्य एवं व्यवस्था के उदय ने संयुक्त कौटम्बिक प्रणाली में विघटन प्रारम्भ किया और नगरों में एकाकी परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई।

इस आर्थिक परिवर्तन ने सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया। व्यावसायिक आधार पर अनेक नवीन जातियों एवं उपजातियों का उदय हुआ। इनमें से कुछ ने आर्थिक आधार पर सामाजिक श्रेष्ठता का भी दावा किया। महाजनपदकाल में समृद्ध व्यापारियों के लिये 'श्रेष्ठि' शब्द का प्रयोग सार्वजनिक रूप से होने लगा था। भूमि का स्वामित्व व्यावहारिक रूप में व्यक्तिगत हो गया, जिससे कर-निर्धारण की पद्धति में भी परिवर्तन हुआ। इन आर्थिक कारकों के कारण समाज के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन में अनेक मूलभूत परिवर्तन हुए। संभवतः इन आर्थिक कारकों ने ही कौटिल्य को अर्थशास्त्र जैसा ग्रन्थ लिखने के लिये प्रेरित किया।

राजनीतिक कारक

सामाजिक परिवर्तन को राजनीतिक शक्तियों ने भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। वैदिक युग की शासन-व्यवस्था में राजा एवं परोहित सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे। इसी का प्रतिफल था सामाजिक स्तरीकरण में ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों की श्रेष्ठता। किन्तु शासन के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों ने वर्ण-व्यवस्था की जड़ता को तोड़ दिया तथा सामाजिक स्तरीकरण के मिथक को झुठला दिया। प्राचीन भारत का ऐतिहासिक सम्राट महा-पद्मनंद शूद्र-गर्भोद्भव था, जिसने वैदिक वर्ण-व्यवस्था को सफलतापूर्वक चुनौती दी। मौर्य-वंशीय क्षत्रिय भी वैदिक सामाजिक परम्परा के अनुकूल नहीं थे, अतः उन्हें प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः शूद्र ही कहा गया। इसी संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि शुंगों, कण्वों एवं शातवाहनों ने श्रुति एवं स्मृति के नियमों का उल्लंघन करते हुए शस्त्र धारण किया तथा क्षत्रिय-कर्मों में संलग्न हो गये। इस प्रकार राजनीतिक परिवर्तनों ने वर्ण-व्यवस्था के कसाव को शिथिल किया तथा सामाजिक परिवर्तन के लिये वातावरण प्रस्तुत किया। दक्षिण भारत के कदम्ब राजवंश ने तो ब्राह्मणत्व का परित्याग कर क्षत्रियत्व स्वीकार कर लिया। इस दिशा में विदेशी आक्रमणकारियों का भी न्यूनाधिक योगदान रहा। सिकन्दर के आक्रमण ने भारतीय समाज की रूढ़िबद्धता को तोड़ा। बाद में आने वाले शकों, हूणों, अरबों और तुर्कों ने भी सत्ता-शक्ति से भारतीय समाज को प्रभावित किया। भारतीय समाज-जीवन का आन्तरिक किन्तु संरचनात्मक आधार बाह्य आक्रमणों से आपाततः प्रभावित होते हुए भी अधिकांशतः अविचलित रहा।

अस्तु: परिवर्तन की जो प्रक्रिया भारतीय समाज में परिलक्षित होती है, वह अंशतः बाह्य प्रभावों से प्रेरित होते हुए भी मूलतः गत्यात्मक अन्तः प्रक्रिया का परिणाम है। इस परिवर्तन में समन्वय की प्रक्रिया मूल थी, जो संघर्ष की अपेक्षा सहयोग एवं सहअस्तित्व पर अवलम्बित थी, इसीलिए भारत में वर्ग-संघर्ष की अवधारणा नहीं बन पायी। वर्णों के अन्तर्गत परिवर्तन मान्य था, परन्तु उनमें प्रतिस्पर्धा नहीं थी।

प्राचीन इतिहास, पुरातत्त्व एवं संस्कृति विभाग,
श्री गांधी महाविद्यालय, मालटारी,
आजमगढ़ (उ० प्र०)

सन्दर्भ :

१. वीसेन्ज, मार्डन सोसाइटी–प० ८८.
२. केण्डेविस-ह्यू मन सोसाइटी–पृ० १६६, ए० डब्लू० ग्रीन, सोसियालाजी, पृ० ४९.
३. आगवर्न और निमकाफ, ए हैण्डबुक आफ सोसियालाजी, पृ० १११.
४. पार्क और बर्गिस, इण्ट्रोडक्शन टू द साइंस आफ सोसियालाजी, पृ० ७३५
५. सदरलैण्ड, इन्ट्रोडक्टरी सोसियालाजी, पृ० २०७
६. गिलिन एण्ड गिलिन, कल्चरल सोसियालाजी, पृ० ६२५
७. एल० वोसेस और एच० बेकर, सिस्टमेटिक सोसियालाजी, प० २६२
८. केण्डेविस, वही, पृ० ६२२
९. महाभारत, शल्य पर्व, ३६, ३७
१०. गौतम, ८/३; याज्ञवल्क्य, १।९६ (मिताक्षरा); मनु, ५/८८ (मेधातिथि); बोधायन धर्मसूत्र १/९१६.
११. "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्", ऋग्वेद
१२. श्रीमद्भागवत—किरात हूणान्ध्र पुलिन्द पुल्कसाः । आभीर कङ्का यवनाः खशादयः ।
१३. जेम्स टाड, ए० ए० आर० भाग १, पृ० ११३, स्मिथ जराएसी, १९०९, पृ० ५४, ब्रुक ए ए आर की भूमिका, कनिंघम, एनअल रिपोर्ट आफ इण्डिया, भाग २, पृ० ७१, कैम्प वेल और जैक्सन, बाम्बे गजेटियर, भाग २, एनेक्सर ३, डी० आर० भण्डारकर, जरा० बम्बई शाखा, २१, पृ० ४१३, बूहलर, आई० ए० १७, पृ० १९२
१४. चिन्तामणि विनायक वैद्य, हिस्ट्री आफ मैडिवल हिन्दू इंडिया, भाग २, पृ० ७–१७. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, राजस्थान का इतिहास, भाग १, पृ० १५५, धीरेन्द्रचन्द्र गांगूली. इंडियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द १०, पृ० ३३७, दशरथ शर्मा, राजस्थान थ्रो द एजेज, भाग १, पृ० ५८२
१५. मैक्समूलर, हम भारत से क्या सीखें, भूमिका
१६. राधाकृष्णन, भारतीय समाज और धर्म
१७. उत्पन्ना द्रविणं साहं वृद्धिं कर्णाटके गता ।
श्रवचित क्वचित् महाराष्ट्रे गूर्जरे जीर्णतां गता । भागवत १/४८
१८. राहुल सांकृत्यायन, मानव समाज, पृ० २०८
१९. बैवलन द इन्सटिंक्ट आफ वर्कमैनिशिप
२०. ऋग्वेद, १०।१५२।४, १।६१।४, ८।१०२।८, ९।११२।१, १०।७२।२, ९।११२।२
२१. अथर्ववेद ३।५।६।७
२२. तैत्तिरीय संहिता, ४।५।४।२

सत्यपाल शर्मा

जातीयता और जातिवाद—महाभारत के सन्दर्भ में

जातीयता और जातिवाद पर प्रकाश डालने वाली हजारों सूक्तियाँ महाभारत में यत्र-तत्र बिखरी मिलती हैं। इनके आधार पर कोई भी लेखक अपने विशिष्ट मन्तव्य की पुष्टि कर सकता है। विशेष प्रसंगों विभिन्न सन्दर्भों और असाधारण मनःस्थितियों में कही गयी ये सूक्तियाँ वस्तुपरक अध्ययन में प्रायः बाधा प्रस्तुत करती हैं। इनमें परस्पर-विरोधी बातें और विसंगतियाँ भी कम नहीं हैं और फिर इन प्रकीर्ण सूक्तियों में प्रक्षिप्तांश होने की भी आशंका रहती है। महाभारत के आख्यान तथा इनमें आये पात्रों का चरित्र-विश्लेषण, इस दृष्टि से कुछ अधिक सहायक हो सकता है। संवादों से भी इस विषय में पर्याप्त सहायता मिल सकती है, क्योंकि ये महाकाव्य के अविभाज्य अंग हैं। महाभारत के अत्यधिक नाटकीयता-सम्पन्न काव्यांश भी इस दृष्टि से कम उपयोगी नहीं हैं। अपने जीवन को सहज परिस्थितियों में सहज रूप में जीते हुए पात्र जो आचरण करते हैं, वह किसी भी अध्ययन के लिये सर्वाधिक उपयोगी हो सकता है। इस महाकाव्य का एक अन्य महत्वपूर्ण अंश है—वीतराग मुनियों और सिद्धपुरुषों के प्रवचन। जातीयता और जातिवाद के संबंध में महाभारतकार का मत जानने के लिये इनका अध्ययन भी बड़ा सहायक हो सकता है। अतः यह निश्चित है कि महाभारतयुगीन समाजदर्शन में उक्त विषय का अध्ययन करने हेतु हमारे लिये उपर्युक्त चारों स्रोत ही उपयोगी हैं।

महाभारत के स्फुट श्लोकों, आख्यानों, संवादों, प्रवचनों और पात्रों के क्रिया-कलापों का अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि महाभारतकाल में जातीयता तो थी, परन्तु जातिवाद केवल नाममात्र का ही था। कुछ अंशों में तो जाति-व्यवस्था संगठनात्मक आदर्शमात्र थी और इसका पालन भी शायद सर्वात्मतः न होता हो। महाभारत स्पष्टतः श्री के० एम० पणिक्कर के इस कथन को प्रमाणित कर देता है कि प्राचीन भारत के चातुर्वर्ण्य का जातिवाद से कोई सीधा संबंध नहीं और उस काल में कोई सामान्य शूद्र भावना नहीं थी। उस समय शूद्र-एकता या ब्राह्मण-एकता की बात भी नहीं की जाती थी।[1] जैसा कि हम इस निबन्ध में आगे उदाहरण देकर प्रमाणित करेंगे, डा० पणिक्कर ने ठीक ही लिखा है कि "गीता में भगवान कृष्ण जब कहते हैं 'चातुर्वर्ण्य

मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' तो वह वर्ण-विभाजन का समर्थन करते प्रतीत नहीं होते। इस कथन का गंभीरता से अध्ययन करने पर प्रतीत होगा कि श्रीकृष्ण ने यहाँ चातुर्वर्ण्य की सार्थकता प्रमाणित नहीं की, बल्कि इसकी गलत परिणति पर आक्षेप किया है।"[२] यदि ऐसी बात न हो तो प्रो० ए० आर० वाडिया का यह कथन प्रमाणित हो जायेगा कि उपनिषदों का उच्चतम अध्यात्मवाद और गीता की उत्कृष्ट नैतिकता, जातियों के आधार पर बंटे हिन्दू समाज के लिये शब्दाडम्बर मात्र हैं।[३]

महाभारतकार यद्यपि समाज के सर्वांगपूर्ण विकास के लिये जाति-व्यवस्था को हितकर मानते हैं, परन्तु जातिवाद से निश्चय ही वह घृणा करते हैं। जाति-व्यवस्था अथवा वर्ण-विभाग वस्तुतः समाज के हित-साधन के लिये थे। महामनीषी डा० राधाकृष्णन ने बहुत ठीक लिखा है कि "किसी भी जाति की संस्कृति को सुरक्षित बचाकर रखने का, जिसे बहुसंख्यक आदिवासियों के मिथ्या विश्वासों में समा जाने का भय हो, एक ही उपाय था कि तात्कालिक संस्कृतिगत एवं जातिगत भेदों को लौहसीमा में बांध कर रखा जाये। दुर्भाग्यवश सामाजिक संगठन को अवनति एवं ह्रास से बचाने के लिये जो यह नीति अंगीकार की गयी थी, आगे जाकर संस्कृति की उन्नति के मार्ग में बाधक हो गयी"।[४] परन्तु संभवतः महाभारत-युग में उक्त व्यवस्था का पतन नहीं हुआ था। महाभारतकार धर्मकार्यों और सामाजिक समारोहों में शूद्र सहित चारों वर्णों को समान महत्व देते प्रतीत होते हैं। अनुशासन पर्व में आये भीष्म पितामह के कथनों से स्पष्ट विदित होता है कि वर्ण अनेकत्व में एकत्व प्राप्ति का साधन माने जाते थे। भीष्म जी कहते हैं—"मैं शूद्र हूं, इसलिये चारों आश्रमों के धर्मों के सेवन का मुझे अधिकार नहीं है, इस प्रकार का बहाना बना कर लोग धर्म से विमुख हो जाते हैं, परन्तु मैं कहता हूं कि चारों वर्णों के शरीर पंचमहाभूतों से ही बने हुए हैं और सबका आत्मा एक सा ही है। केवल लोकधर्म और विशेष धर्म की दृष्टि से ही उन्हें अलग-अलग काम दिये गये हैं। उद्देश्य यह है कि अपने निर्धारित कर्म करते हुए ये एकत्व को प्राप्त हों।"[५]

महाभारत में शूद्रों की अस्पृश्यता का तो एक भी संकेत नहीं मिलता। उस समय के समाज में यह विश्वास बद्धमूल था कि ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण सब वर्ण ब्रह्ममय हैं। याज्ञवल्क्य मुनि ने राजा जनक को उपदेश दिया था कि चूंकि सब वर्ण ब्रह्म से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये वे सब ब्राह्मण ही समझे जाने चाहिए। वे सब सदा ब्रह्म का ही उच्चारण करते हैं। मैं शास्त्रबुद्धि से तत्त्वतः यह यथार्थ बात कह रहा हूं कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म ही है।[६] सृष्टि में पहले ब्राह्मण उत्पन्न हुए। ब्राह्मणों के चार गोत्र, अंगिरा, कश्यप, वसिष्ठ और भृगु सब से पहले इस धरती पर अवतरित हुए। बाद में अन्य गोत्र तो कर्म के अनुसार बने और उन तप करने वाले मुनियों के नामों के साथ जुड़ गये।[७] शान्तिपर्व में एक स्थल पर कहा गया है कि ब्राह्मण ही शेष तीन वर्णों में अपने भिन्न रूपों में प्रकट हुआ है, अतः सारे वर्ण मूलतः एक ही हैं।[८] ब्राह्मण जब यज्ञ कर रहा होता है तो यह समझना चाहिए कि वह शेष तीन वर्णों के लिये भी यज्ञ कर रहा है, क्योंकि विधाता ने उसे शेष तीनों वर्णों के यज्ञ करने के लिये ही बनाया है।[९] एक अन्य स्थल पर बताया गया है कि ब्राह्मण के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने लिये निश्चित किये गये व्यवसाय में ही अपने आप को सीमित रखे, अतः यदि वह आवश्यकता पड़ने पर क्षत्रिय-धर्म का पालन करता है तो इससे वह निन्दनीय नहीं होता। कारण यह है कि क्षत्रिय की उत्पत्ति ब्राह्मण से ही हुई है।[१०] इन उदाहरणों का मनन करने से यह स्पष्ट हो जायेगा कि महाभारतकार चार वर्णों की सत्ता और उपयोगिता मानते हुए भी किसी एक वर्ण को दूसरे वर्णों की अपेक्षा अधिक प्रश्रय नहीं देते। समाज के संतुलित विकास के लिये इनका समान महत्व है।

महाभारत-काल में लगभग सभी सामाजिक कार्यों और धार्मिक अनुष्ठानों में शूद्रों की उपस्थिति आवश्यक मानी जाती थी। कर्ण के राज्याभिषेक-समारोह में उत्तम संस्कार-सम्पन्न शूद्र भी सम्मिलित हुए थे और उनके बैठने की विशेष व्यवस्था की गयी थी। महाभारत में शूद्र-विद्वेष एक ऐसा अपराध माना गया है, जिससे प्रकृति भी कुपित होती है। शल्यपर्व में विनशन तीर्थ के वर्णन-प्रसंग में बताया गया कि शूद्र-विद्वेष के कारण यहाँ सरस्वती लुप्त हो गयी थी।[११] राजा लोग

अपने शासन-संबंधी कार्यों में शूद्रों को भी प्रतिष्ठा के पद देते थे। उन्हें भी अन्य वर्णों के कर्मचारियों के समान ही दायित्वपूर्ण काम सौंपे जाते थे। राजा के मन्त्रि-मण्डल के प्रसंग में भीष्म का कहना है कि शुद्ध आचार-विचार वाले तीन विनयशील शूद्र भी मंत्रिमण्डल में होने चाहिए।[१३] सब वर्णों के समान प्रयास से समाज के सर्वांगपूर्ण विकास का विश्वास बद्धमूल था। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की सहायता के बिना धर्मकार्य भी संभव नहीं है।[१४] महाभारतकाल में सब वर्णों को यज्ञ करने का अधिकार था, परन्तु यज्ञ-कर्त्ता के वर्ण, संस्कार और शिक्षा-दीक्षा की न्यूनाधिकता के आधार पर इन यज्ञों में कुछ भेद हो जाता था। महा-भारत में वैखानस मुनियों के साक्ष्य से कहा गया है कि सब वर्णों को यज्ञ करना चाहिए।[१५] परन्तु स्थूल यज्ञों का करना कोई विवशता भी नहीं थी। सवर्णों के कर्तव्य कर्म के प्रसंग में भीष्म कहते हैं कि श्रद्धा ही सबसे बड़ा यज्ञ है।[१६] संकल्प या मनीषा का यज्ञ भी श्रेष्ठ है और यह सब वर्णों के लिये है।[१७] इसके अतिरिक्त मानस-यज्ञ है, जो श्रेष्ठतम है और जिसका सब वर्णों को अधि-कार है। यह इतना महत्वपूर्ण और उपयोगी है कि इसमें देवता और मनुष्य सभी भाग ग्रहण करना चाहते हैं।[१८] सभी वर्णों के लोग सब प्रकार के यज्ञों में अपने-अपने ढंग से योग देते हैं, अतः यज्ञ पर किसी भी वर्ण का एकाधिकार नहीं होता। भीष्म का कहना है कि शूद्र यज्ञ कर सकते हैं, परन्तु इन यज्ञों में स्वाहाकार, वषट्कार मन्त्र नहीं पढ़ जाते (इनके पढ़ने के लिये विशेष शिक्षा-दीक्षा की आवश्यकता होती है, अतः इनके पाठ का कार्य ब्राह्मणों के अतिरिक्त और किसी भी वर्ण के लोगों को नहीं सौंपा गया था)। शूद्रों के लिये बलिवैश्वदेव यज्ञ विशेष रूप से निश्चित किया गया था। कहीं-कहीं पर ऐसा भी कहा गया है कि तीनों वर्णों द्वारा किये जाने वाले यज्ञों में चूंकि शूद्र का भी निश्चित भाग और योग है, अतः यदि वह यज्ञ न भी करे तो कोई बुरी बात नहीं। यों तो महाभारत में ऐसे महान शूद्रों का भी उल्लेख हुआ है, जिन्होंने बड़े-बड़े यज्ञ किये थे। पैजवन नामक शूद्र ने ऐन्द्राग्न यज्ञ की विधि से यज्ञ करके दक्षिणा में एक लाख पूर्णपात्र दान किये थे। आपातकाल में शूद्र अपना सेवा का व्यवसाय छोड़ कर दूसरे कार्य करते भी दिखाये गये हैं। आक्रमण की स्थिति में वे शस्त्र भी उठाते थे।[१९] वर्ण-धर्मों में कोई कठोर जकड़बन्दी उस समय नहीं थी। अन्य वर्णों की रक्षा में ब्राह्मण शस्त्र उठा सकते थे।[२०] उन्हें तीन परिस्थितियों में शस्त्र उठाने की अनुमति थी—

(क) आत्मरक्षा के लिये,
(ख) दुर्दम्यनियमन के लिये,
(ग) वर्ण-दोष में।

संकट से मुक्ति पाने के लिये शूद्रों की सहायता ली जाती थी और ऐसे शूद्रों का बड़ा सम्मान होता था।[२१]

महाभारत के आख्यानों में शूद्रों और शूद्र-सन्तानों का चरित्र बड़ा उज्ज्वल, संस्कार-सम्पन्न और विनीत दिखाया गया है। ब्राह्मणों की जन्मगत श्रेष्ठता तथा शूद्रों की जन्मगत निकृष्टता का उल्लेख तो यहाँ शायद ही कहीं मिलता हो। वनपर्व में कही गयी कौशिक ब्राह्मण और धर्मव्याध की कथा से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि महाभारतकार ब्राह्मणों और गुणवान शूद्रों में कोई भेद नहीं करते, वरन् वह विद्वान, विनयशील, धर्मज्ञ, सेवापरायण, श्रद्धालु और स्वकर्मरत शूद्रों को साधारण ब्राह्मणों से बड़ा मानते हैं। मिथिलावासी धर्मव्याध अपने इन्हीं गुणों के कारण विख्यात था। साध्वी 'पति-व्रता' से धर्मव्याध का पुण्य-चरित्र सुनकर तपस्वी ब्राह्मण कौशिक को अपने में हीनता का अनुभव होता है और वह उस से धर्म-प्रवचन सुनने के लिये व्यग्र हो उठता है तथा अनेक वन-पर्वतों, जनपदों और नगरों को पार करता हुआ उसके पास जा पहुंचता है। उसे यह जान कर बड़ा आश्चर्य होता है कि मिथिला के सब ब्राह्मण उसके घर का पता जानते हैं। कौशिक ब्राह्मण बिना किसी संकोच के धर्मव्याध के साफ-सुथरे घर में उसका आतिथ्य स्वी-कार करता है। अपने इस प्रवास के समय ब्राह्मण धर्म-व्याध से सृष्ट्युत्पत्ति, पुनर्जन्म, भाग्य और पौरुष, लौकिक व्यवहार, नीतिशास्त्र और ब्रह्मचिन्तन आदि विषयों पर अद्भुत और असाधारण प्रवचन सुनता है। इस प्रसंग का अध्ययन कर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि—

(क) अपना पैतृक व्यवसाय यदि निष्ठापूर्वक

किया जाय तो इससे पुण्य-लाभ ही होता है। इस से न तो जातिगत हीनता उत्पन्न होती है और न श्रेष्ठता का दर्प ही पैदा होता है।

(ख) यदि भावना शुद्ध है और कर्म के प्रति निष्ठा है तथा लोकमंगल का ध्यान है तो संसार का कोई भी कार्य किसी भी व्यक्ति के लिये अशुभ, अयोग्य, घृणास्पद और वर्ज्य नहीं।

(ग) जन्म से निम्न जाति का होने पर भी कोई व्यक्ति शुद्ध आचार, स्वधर्माचरण, कर्तव्य-निष्ठा और विनयशीलता से महान बन सकता है।

(घ) इन्द्रिय-निग्रह करने वाला, शुद्ध, पवित्र और तत्त्वचिन्तनरत व्यक्ति भी यदि अपने लौकिक कर्तव्यों, सामाजिक आग्रहों और नैतिक शिष्टाचारों का ध्यान नहीं रखता तो वह नीच ही है।

(ङ) शूद्र योनि में जन्म लेकर भी सद्गुणों का आश्रय लेने वाला व्यक्ति इसी जन्म में वैश्यत्व, क्षत्रियत्व और ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेता है।

(च) शूद्र भी धर्म के सनातन स्वरूप को समझ सकता है और ऐसे व्यक्ति को शूद्र नहीं कहना चाहिए। दुष्कर्म में लगा दम्भी और दुष्कृति ब्राह्मण शूद्र है तथा दम, सत्य और धर्म में लीन शूद्र ब्राह्मण है। सद्वृत्ति से ही ब्राह्मणत्व मिलता है।

तब फिर एकाध स्थल पर जो शूद्र की निन्दा की गयी है, उसका क्या कारण है? 'भगवान कहते हैं कि शूद्र के मुख से वेद का उच्चारण होते देख मुझे डर लगता है।' महाभारतीय आश्वमेधिक पर्व के वैष्णव धर्म पर्व में एक बड़ी विचित्र और विरोधाभास युक्त बात मिलती है। यहाँ दिये दस श्लोकों में वृषल, शूद्र और चण्डाल की निन्दा की गयी है, परन्त इस के बाद एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि शूद्र के घर जन्म लेने वाले भक्त की अवमानना करने वाले करोड़ों वर्षों तक नरक में रहते हैं।[२१] इस से यह प्रतीत होता है कि महाभारतकार शूद्रत्व को जन्म से नहीं, आचार, गुण और स्वभाव से जोड़ रहे हैं। पहले श्लोकों में कहा गया है कि भगवान के स्थान पर शूद्र का स्तवन करने वाला व्यक्ति चण्डाल के समान निन्दनीय है। एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि चौदह विद्याओं को शूद्र का स्पर्श तक नहीं होने देना चाहिए। शूद्र के सम्पर्क में आने वाली सब वस्तुएं अपवित्र हो जाती हैं। परन्तु शूद्र के साथ साथ यहाँ 'वृषल' की भी निन्दा की गयी है। महाभारत में सैकड़ों बार कहा गया है कि शूद्र के घर जन्मा व्यक्ति शूद्र नहीं, बल्कि हीन गुण-स्वभाव-कर्म व्यक्ति ही शूद्र है, परन्तु 'वृषल' कौन है? महाभारत में कहा गया है कि 'वृष' का अर्थ है धर्म। जो व्यक्ति इसका लय या नाश करता है उसे 'वृषल' कहना चाहिए।[२२] एक अन्य श्लोक में उस ब्राह्मण को वृषल कहा है, जिसने श्रुतियों को भुला दिया है और अन्य वर्णों के काम करने लगा है। यहाँ अग्निहोत्र से परिभ्रष्ट, क्रय-विक्रयशील और वर्णसंकरताकारक ब्राह्मण को भी वृषल कहा है। इसी प्रसंग में कहा है कि कल्याणकारक गुणों से, न कि जाति से, कोई बड़ा बनता है।[२३] महाभारतकार के अनुसार पांच प्रकार की शुद्धियों से मनुष्य बड़ा बनता है। ये शुद्धियाँ है—मनःशुद्धि, क्रियाशुद्धि, कुलशुद्धि, शरीरशुद्धि और वाक्शुद्धि। इन शुद्धियों के न होने से ही कोई शूद्र बनता है, अतः ऐसे अशुद्ध व्यक्ति को चौदह विद्याओं का स्पर्श क्यों करवाया जाये? यहाँ कुलशुद्धि का अभाव शूद्रत्व के कारण का पंचमांश सिद्ध होता है। कुलशुद्धि का संबंध भी हमें सर्वांशतः आनुवंशिकता से नहीं जोड़ना चाहिए, वरन इसे उत्तम माता-पिता की उत्तम आचार-परम्परा ही मानना चाहिए। परन्तु इन पंचशुद्धियों की बात किस सन्दर्भ में उठती है? हमारे विचार से यहाँ विद्या के अधिकारी और अनधिकारी की चर्चा ही मुख्य है। यह चर्चा समूचे भारतीय वाङ्मय में पायी जाती है। अशिक्षित, अर्धशिक्षित, तामस वृत्ति वाले तथा अनेक मानसिक विकृतियों वाले लोग अनास्था, अविश्वास और भ्रान्ति को जन्म देकर अर्थ का अनर्थ कर डालते हैं। अतः इस प्रसंग में की गयी शूद्रनिन्दा वस्तुतः अशुद्धता की निन्दा है।

यदि ऐसा न होता तो इन निन्दासूचक श्लोकों के अन्त में शूद्र के घर जन्म लेने वाले भक्त का स्तुतिगान न किया होता।

महाभारतीय आश्वमेधिक पर्व के उमा-महेश्वर-संवाद में वर्णों के धर्म बताये गये हैं। यहाँ बताया गया है कि यदि शूद्र में आठ गुण हों तो उसे भी अन्य वर्णों के समान ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ये गुण इस प्रकार हैं :—

(१) द्विज-सेवा में तत्परता (यह उसका सामाजिक कर्तव्य है या आजीविका का साधक व्यवसाय है।)

(२) ब्राह्मणों की विशेष सेवा (विद्वान और तत्त्ववेत्ता के सम्मान के नाते)

(३) बिना मांगे दान देने की प्रवृत्ति (अहैतुक प्रेम और संवेदनशीलता का गुण है।)

(४) सत्य और शौच से समन्वित होना (आत्मिक और कायिक शुद्धता है।)

(५) गुरु और देवताओं की अर्चना (आस्तिकता और विद्याप्रेम है।)

(६) परायी स्त्री पर आँख न उठाना (अवैध कामसंबंधों की ओर प्रवृत्त न होना।)

(७) दूसरों को कष्ट न देना (अहिंसा व्रत है।)

(८) सेवकों का भरण-पोषण करना (कृतज्ञता का भाव है।)

इन गुणों का कथन निश्चय ही किसी हीन सामाजिक स्थिति वाले वर्ग के लिये नहीं हो सकता। इससे महाभारतकाल के शूद्रों की स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। जहाँ तक ब्राह्मणों के प्रति अनुचित पक्षपात का प्रश्न है, महाभारत के आश्वमेधिकपर्व में दो ऐसे श्लोक हैं, जिनमें दुर्वृत्त ब्राह्मण को भी जन्मतः पवित्र होने से धर्म का मूर्त स्वरूप और पूज्य माना गया है।[२५] परन्तु ये श्लोक महाभारत की दाक्षिणात्य प्रति में ही मिलते हैं तथा इसी प्रसंग में दिया गया छः प्रकार के चाण्डाल ब्राह्मणों का वर्णन ब्राह्मणों की आनुवंशिक शुद्धता का खण्डन कर देता है। ब्राह्मणों के विधि-निषेध-प्रसंग में बताया गया है कि उन्हें जहाँ-तहाँ भोजन नहीं करना चाहिए। उन्हें शूद्र का भोजन ग्रहण करना भी ठीक नहीं। आपातकाल में, यात्रा में या अन्य विशेष परिस्थितियों में उन्हें शूद्र से कच्चा भोजन अवश्य ले लेना चाहिए।[२६] शूद्रान्नभोजी, शूद्रान्नरसपुष्टांग ब्राह्मण दोष का भागी माना गया है। परन्तु ये सब निषेध निवृत्तिमार्गी ब्राह्मण के लिये ही हैं।[२७] यहाँ मूल श्लोक में 'निवृत्तेन' शब्द का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि शेष ब्राह्मणों पर ऐसा कठोर प्रतिबन्ध नहीं था। शूद्र के अन्न के निषेध-संबंधी इन तीन-चार श्लोकों से यह भी संकेत मिलता है कि क्षत्रिय और वैश्य तो शूद्रों के साथ भोजन करते ही थे, ब्राह्मणों के लिये भी ऐसा निषेध नहीं था और वस्तुतः निषेध भी तभी होता है, जब कोई कार्य हो रहा हो या होने की आशंका हो। हम यह भी देख सकते हैं कि धर्मव्याध का आतिथ्य स्वीकार करने वाले कौशिक ब्राह्मण ने उसके घर में भोजन भी अवश्य किया होगा। ब्राह्मणों के लिये जहाँ-तहाँ भोजन करने का निषेध शूद्र-निन्दा नहीं है। ब्राह्मणों के आहार-विहार और आचार-विचार पर विशेष प्रतिबन्ध रहे हैं। ज्ञान-सम्पदा का अर्जन और संवर्धन करने का दायित्व संभालने वालों के लिये यह आवश्यक भी है। सेवा-कार्य सर्वत्र उपलब्ध हो जाने तथा बणिज व्यवसाय के साधन मिल जाने से क्रमशः शूद्र और वैश्य कहीं भी बस सकते थे, परन्तु ब्राह्मणों के बसने के लिये केवल कुछ-एक स्थान ही निर्धारित होते थे।[२८]

जातिवाद को प्रश्रय देने वाले रंगभेद पर भी महाभारत में विचार किया गया है। संयुक्त राष्ट्र शिक्षा और संस्कृति संगठन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होने वाली पत्रिका 'कूरियर' के 'रंगभेद विशेषांक' में संसार के विख्यात प्रजातितत्त्व-विशेषज्ञों ने अपनी सम्मति प्रकट करते हुए कहा है कि चमड़ी की रंजकता का प्रजाति, जाति या वंश से कोई संबंध नहीं होता और रंग के आधार

पर लोगों की श्रेष्ठता या निकृष्टता का निर्णय करना पूर्णतः अवैज्ञानिक है। भारत में महाभारतपूर्व और महाभारत के समकालीन वाङ्मय में कहीं-कहीं अलग-अलग वर्णों के अलग-अलग रंगों का संकेत किया गया है। हो सकता है कि हमारे यहाँ कभी रंग भी जाति का आधार रहा हो, परन्तु बाद में इस भूल को समझ लिया गया होगा, अथवा यह भी हो सकता है कि श्वेत, लाल, पीला और श्याम—ये चार रंग चार प्रवृत्तियों के प्रतीक रहे हों और बाद में भ्रमवश इन्हें जातियों से जोड़ दिया गया हो। रंग के आधार पर जाति की पहचान करने का महाभारत में निषेध किया गया है। यहाँ भरद्वाज मुनि ने भृगु के मत का बड़े प्रबल शब्दों में खण्डन किया है। भृगु महाराज ने कहा था कि प्रजातियों की उत्पत्ति के बाद ब्रह्मा जी ने स्वर्ग-प्राप्ति के साधनभूत सत्य, धर्म, तप, सनातन वेद-आचार और शौच के नियम बनाये। इसके बाद देवता, दानव, गन्धर्व आदि मानवेतर श्रेणियां तथा इसके पश्चात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चार वर्ण बनाये। ब्राह्मण का रंग श्वेत, क्षत्रिय का लाल, वैश्य का पीला और शूद्र का काला बनाया। इस पर भरद्वाज मुनि शंका करते हुए कहते हैं कि सब वर्णों में विभिन्न रंगों के लोग दिखायी देते हैं, अतः आपके कथनानुसार यदि अलग-अलग वर्णों का अलग-अलग रंग निश्चित है तो सारा समाज ही वर्णसंकर है। हम सब मनुष्य काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक, चिन्ता, भूख और थकावट अनुभव करते हैं, अतः हम में भेद क्या रह गया? वर्णों का इस प्रकार का विभाजन कैसे हो सकता है? सब मनुष्यों के शरीर से स्वेद, मल-मूत्र, श्लेष्मा तथा रक्तमिश्रित पित्त का निकास होता है, अतः मूलतः सब मनुष्य एक जैसे हैं। फिर इस संसार में और भी तो प्राणि-समुदाय हैं तथा वनस्पति-जगत् में भी तो अनेक वर्ग हैं, उनके रंग भी अनेक प्रकार के हैं, उनके वर्णों का निश्चय कैसे हो सकता है?[२९]

महाभारत में बार-बार आचार को ही जाति की श्रेष्ठता का नियामक बताया गया है। मनुस्मृति भी इसका अनुमोदन करती है।[३०] यहाँ कहा है कि सदाचार ही सबसे बड़ा धर्म है। श्रुतियों और स्मृतियों का यही कहना है। आचारहीन ब्राह्मण नहीं, केवल सदाचारी ब्राह्मण ही पूर्ण फल पा सकता है। महाभारत के आदि-पर्व में कहा गया है कि वीरता और पौरुष के मूल स्रोत को खोज निकालना बड़ा कठिन है। चराचर जगत् को व्याप्त कर रखने वाला अग्नि जल से प्रकट हुआ है और दानव-संहारक वज्र दधीचि मुनि की हड्डियों से बना था।[३१] आचार कुल और वंश के अनुसार ही नहीं पाया जाता, इसलिये कुलाभिमान और वंशानुकीर्तन निन्दनीय है। बल की प्रधानता से ही क्षत्रियत्व है। नाम बोल देने से गुण का पता नहीं चलता। कर्मण्यता और पौरुष की प्रबलता तो प्रत्यक्ष देखी जाती है। स्वभाव की प्रबलता और कर्मठता से वंशानुगत गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है। आदिपर्व में ही कहा गया है कि "कितने ही ब्राह्मण क्षत्रियों में उत्पन्न हुए हैं, उनका नाम तुमने भी सुना होगा तथा विश्वामित्र आदि क्षत्रिय भी अक्षय ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो चुके हैं।"[३२] अतः यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के प्रकृति-प्रदत्त और वंशानुगत गुणों की भांति उसके अर्जित गुण भी प्रभावी होते हैं।

महाभारत के वनपर्व में आया 'आजगर प्रसंग' इसी मन्तव्य की बड़ी सुन्दर व्याख्या करता है। अजगर-रूपधारी नहुष के यह पूछने पर कि ब्राह्मण कौन है, युधिष्ठिर उत्तर देते हैं कि सत्य, दान, क्षमाभाव, सदाचार, नम्रता, तप और दयालुता जिस व्यक्ति में दिखायी दे, उसे ब्राह्मण कहना चाहिए। जानने योग्य परम तत्त्व के विषय में अजगर की जिज्ञासा का समाधान करने के लिये वह कहते हैं कि संसार में जानने योग्य तत्त्व ब्रह्म ही है, जो सुख-दुःख से परे है। इस पर सर्प कहता है—"युधिष्ठिर! सत्य एवं प्रमाणभूत ब्रह्म तो चारों वर्णों के लिये हितकर है, फिर तुम्हारे बताये हुए ये गुण तो शूद्र में भी हो सकते हैं, तो क्या उसे ब्राह्मण कहोगे?" युधिष्ठिर उत्तर देते हैं—"भगवन! मैं समझता हूं कि यदि शूद्रमें ये लक्षण हों और ब्राह्मण में न हों तो शूद्र शूद्र नहीं होगा और ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं होगा। जिस किसी मनुष्य में जहाँ-कहीं भी ये गुण होंगे, वह ब्राह्मण ही माना जायेगा और जिसमें ये गुण नहीं होंगे, वह शूद्र कहा जायेगा।"[३३] नागराज प्रश्न करते हैं कि यदि आचरण से ही तुम ब्राह्मणत्व का निर्णय करते हो तो जाति-व्यवस्था तो व्यर्थ ही हुई, क्योंकि तब तो चारित्रिक गुणों के अनुसार किये जाने वाले कर्मों से ही उसका निर्धारण होगा। युधिष्ठिर कहते हैं—"नागराज! मनुष्य जाति में वर्ण का निर्धारण

बड़ा कठिन है, क्योंकि मैं देखता हूं कि इस समय सभी वर्णों का मिश्रण हो रहा है। सब मनुष्य सब जातियों की स्त्रियों से सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं और सदा ही ऐसा होता चला आया है। मनुष्यों में वाणी, प्रजनन, जन्म और मरण एक जैसे ही देखे जाते हैं। वेद भी इस बात का साक्ष्य देते है, अतः तत्त्वदर्शी लोग आचरण अथवा शील को ही प्रधानता देते हैं, जन्म को नहीं।"[३४] ऐसी ही मान्यता मनुस्मृति-काल में प्रचलित प्रतीत होती है। उपनिषद्काल में भी यही मान्यता रही होगी। सत्यकाम की जाति का निर्णय उसके गुरु ने उसकी सत्यनिष्ठा के आधार पर ही किया था। महाभारत में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीनों वर्णों को साधारणतः द्विजाति शब्द से अभिहित किया गया है, परन्तु ब्राह्मण को विशेषतः द्विज कहा गया है, जिससे पता चलता है कि महाभारतकार विद्या-संबंधी दूसरा जन्म लेने वाले को ही ब्राह्मण मानते हैं, किसी अन्य को नहीं।[३५] ब्राह्मण उस समय चारों वर्णों से ही दान ग्रहण करते थे।[३६] ज्ञान-प्राप्ति के लिये भी जाति का प्रतिबन्ध नहीं था। महाभारत में कहा गया है कि "ज्ञान सब वर्णों से प्राप्त कर सकते हैं—शूद्र से भी"।[३७]

एक अन्य दृष्टि से भी इस विषय पर विचार किया जा सकता है। महाभारत के शान्तिपर्व में, वर्णों के 'सामान्य' और 'विशेष'— ये दो प्रकार के धर्म बताये गये हैं। सामान्य धर्मों की दृष्टि से सब वर्ण बराबर हैं, जबकि विशेष धर्मों की दृष्टि से इनमें कुछ भिन्नता है। यहाँ आजीविका-संबंधी कार्यकलाप विशेष धर्म बताये गये हैं और सामान्य धर्मों में मुख्य हैं—अक्रूरता, अहिंसा, अप्रमाद, सविभागिता, श्राद्धकर्म, अतिथि-सत्कार, सत्य, अक्रोध, स्वदार-रति, शौच, अनसूयता, आत्मज्ञान और तितिक्षा।[३८] परन्तु एक स्थल पर एक विरोधाभासी सी प्रतीत होने वाली बात कही गयी है। "कहते हैं कि शूद्र पतित नहीं होता, परन्तु वह संस्कार का भी अधिकारी नहीं होता।"[३९] वस्तुतः यह 'संस्कार' शब्द पैतृक व्यवसाय बदलने अथवा वर्णगत कर्म में परिवर्तन लाने के अर्थ में आया है। 'शूद्र संस्कार का अधिकारी नहीं, वह यज्ञ कराने का कार्य न करे, वह वेद का उच्चारण न करे' आदि निर्देश उसके वर्णगत विशेष धर्म से संबंध रखते हैं और इनका संबंध केवल व्यवसाय से ही है। व्यवस्था की दृष्टि से याज्ञिक कर्मकाण्ड तथा अध्ययन-अध्यापन आदि कार्य क्षत्रियों और वैश्यों के लिये भी एक प्रकार से निषिद्ध ही थे। परन्तु महाभारतकार व्यवस्था अथवा यथास्थिति पर कहीं भी अपनी छाप नहीं लगाते। वह तो विशेष धर्मों को बदल कर लोगों को अपना वर्ण बदल डालने का भी अधिकार देते हैं। विश्वामित्र की ब्राह्मणत्व-प्राप्ति का आख्यान महाभारत में विस्तार से कहा गया है। चाण्डाल की संतान होते हुए भी मतंग ऋषि ब्राह्मणत्व पा गये थे। ब्राह्मण होते हुए भी इन्द्र अपने विशेष धर्म का परिवर्तन कर क्षत्रिय हो गये थे।[४०] उस समय जाति-संबंधी इतनी उदारता थी कि गुरुकुल में रहते हुए विद्यार्थी अपने नाम के साथ प्रायः अपने गुरु के कुल का नाम जोड़ लिया करते थे और गुरुओं को इस में कोई आपत्ति नहीं होती थी। कर्ण ने परशुराम जी को अपनी जाति भार्गव बतायी थी।[४१] कहा जाता है कि परशुरामजी अब्राह्मणों को शिक्षा नहीं देते थे, परन्तु कर्ण को दिये गये उनके शाप का कारण वस्तुतः यह था कि उसने ब्रह्मास्त्र-प्राप्ति के लोभ में वास्तविकता को छिपाये रखा था। बाकी जहां तक अब्राह्मणों को शिष्यत्व प्रदान न करने का प्रश्न है, महाभारत में तथा अन्यत्र कहा गया परशुराम जी का आख्यान पुरानी प्रतिद्वन्द्विता की ओर संकेत करता है। इसकी पृष्ठभूमि में कुछ राजनीतिक और प्रशासनिक कारण भी रहे होंगे।[४२]

ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय शूद्र बालक गुरुकुलों में शिक्षा पा सकते थे और ब्राह्मण गुरु उनसे बिना किसी संकोच के गुरुदक्षिणा भी लेते थे। गुरुदक्षिणा के रूप में एकलव्य के अंगूठे का काट लिया जाना सब जानते हैं, द्रोणाचार्य ने अन्यत्र बड़े ग्लानि भरे शब्दों में कहा है कि "मनुष्य अर्थ का दास है, परन्तु अर्थ किसी का दास नहीं"। अर्थ की दासता ने ही द्रोण को राजवंशियों के प्रति विशेष पक्षपात रखने पर विवश किया था, वैसे वह स्वीकार करते थे कि तप का सबको अधिकार है।[४३] कर्ण जब कुरुकुल के राजकुमारों के साथ गुरु द्रोणाचार्य से शिक्षा ग्रहण कर रहा था तो सब उसे सूतपुत्र ही समझते थे। द्रोण ने अर्जुन के प्रति पक्षपात के कारण, जाति का बहाना बना कर उसे ब्रह्मास्त्र-विद्या नहीं दी थी।[४४]

आचार्य द्रोण ने तप के समान अधिकार की जो बात कही

है, उसमें महाभारतकार के निजी मत की एक झलक मिलती है। सतत परिश्रम से मनष्य में आमूल परिवर्तन संभव है। महाभारत में कही गयी 'पराशर गीता' में बीज और क्षेत्र के रूपक से यह बात समझायी गयी है। बीज आनुवंशिकता का तथा क्षेत्र शिक्षा, परिवेश या संस्कार का द्योतक है। साधारण अवस्थाओं में बीज और क्षेत्र दोनों का समान महत्व है। वंश और शिक्षा, दोनों के उत्तम होने से अच्छे मनुष्य उत्पन्न होते हैं।[४५] राजा जनक ने पराशर मुनि से दो महत्वपूर्ण प्रश्न किये हैं—

(क) जब सब लोग ब्रह्म से ही उत्पन्न हुए हैं, तब इतने गोत्र क्यों ?

(ख) क्षेत्र निकृष्ट होने पर भी ऋषि मुनि ब्राह्मणत्व को कैसे प्राप्त हुए ?

पहले प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि तप की न्यूनाधिकता से लोग श्रेष्ठ और हीन बनते हैं और इसी के अनुसार जातियाँ और गोत्र बनते हैं। दूसरे प्रश्न का संबंध आनुवंशिकता से है। इसका उत्तर यह दिया गया है कि बीज बड़ा प्रबल होता है, परन्तु बीज की उत्कृष्टता भी तप और अध्यवसाय पर निर्भर रहती है। तपःपूत ऋषि जहाँ भी स्वेच्छा से जन्म लेते हैं, वहीं उन्हें ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है। पराशर मुनि यह भी कहते हैं कि ऋषियों ने तप के बल पर अपनी सन्तानों को ब्राह्मणत्व प्राप्त कराया।[४६] अतः यहाँ स्पष्टतः आनुवंशिकता की अपेक्षा शिक्षा, तप, संस्कार आदि को अधिक महत्व दिया गया है। महाभारत में वसिष्ठ, ऋष्यशृंग, वेद, ताण्ड्य, कृप, कक्षीवान, कमठ, यवक्रीत, द्रोण, आयु, मतंग, दत्त, द्रुपद, मत्स्य आदि ऋषि तप के बल पर ही उच्च स्थिति पाने वाले बताये गये हैं। तप की क्षीणता से लोग पतित होते भी बताये गये हैं।[४७] इसके विपरीत तप की उत्कृष्टता से शूद्र के ब्राह्मणता प्राप्त करने की बात का मनुस्मृति में भी अनुमोदन किया गया है।[४८] आपस्तम्ब धर्म-संहिता भी यही कहती है कि धर्म के आचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से श्रेष्ठ वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण का गिना जाना चाहिए, जिसके कि वह योग्य है। इसी प्रकार अधर्माचरण से पूर्व-पूर्व वर्ण वाला मनुष्य अपने से नीचे वाले वर्णों को प्राप्त होता है।[४९]

बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने निबन्ध 'शिक्षा और आनुवंशिकता' में शिक्षा को अधिक प्रभावी माना है। वह कहते हैं— "हेरोडोटस लिखता है कि जन्म से बारह वर्ष की आयु तक एक कृषक के घर पाले-पोसे जाने पर भी अपने शाही व्यवहार के कारण साइरस को उसके दादा ने सुगमता से पहचान लिया, किन्तु मुझे भय है कि वंश-परम्परा के पक्षपाती और नार्डिक वंश की उच्चता के प्रचण्ड पोषक भी इस कहानी की सत्यता में विश्वास करने में कठिनाई अनुभव करेंगे।" वह आगे कहते हैं कि "मनुष्यों के जन्मजात अन्तर के महत्व से इनकार नहीं किया जा सकता, तिस पर भी सृजनन-विद्याशास्त्रियों द्वारा इससे निकाले गये व्यावहारिक निष्कर्ष एक सीमा तक अवैज्ञानिक हैं। कोई नहीं जानता कि समाजोपयोगी गुणों की कौन सी बातें आनुवंशिकता से प्राप्त हैं तथा उनमें से कौन सी प्रभावी और कौन अप्रभावी हैं।"[५०]

आनुवंशिकता का प्रभाव सदैव नहीं बना रह सकता। बार-बार प्रेरित किये जाते रहने पर ही मनुष्य अपने गुणों में टिका रह सकता है। शिक्षा और परिवेश के कारण ही क्षत्रिय तेजस्वी और पराक्रमी बने रहते हैं। अभिमन्यु का असह्य तेज और पराक्रम अर्जुन द्वारा दी गयी शिक्षा और क्षत्रिय परिवेश के कारण अधिक था। महाभारत युद्ध में शौर्य प्रकट करने वाले तथा भयभीत होकर भाग खड़े होने वाले दोनों क्षत्रिय ही थे। महाभारत का विदुलोपाख्यानपर्व वीरों की प्रेरणा के लिये लिखा गया प्रतीत होता है। महाभारत में भागती हुई सेनाओं का वर्णन तो है, परन्तु किसी जाति-विशेष के सैनिक-समुदाय के भाग खड़े होने का कहीं कोई प्रसंग नहीं मिलता।

महाभारतकार की दृष्टि में वीरत्व पर किसी जाति-विशेष का एकाधिकार नहीं।[५१] महाभारत में यद्यपि रूप, रंग, आकार और अंग-संघटना के अनुसार सैनिकों के लक्षण बताये गये हैं, परन्तु वर्ण के आधार पर यहाँ कहीं भी वीरता की परख नहीं की गयी है। महाभारत में यह प्रश्न तो किया गया है कि युद्ध में भेजे जाने वाले लोगों का स्वभाव, आचार और रूपाकार कैसा हो,

परन्तु यह कहीं नहीं कहा गया है कि उनका वर्ण या जाति क्या हो।[५३] हाँ इतना अवश्य कहा गया है कि भिन्न-भिन्न देशों और प्रजातियों के योद्धा भिन्न-भिन्न शस्त्रों, युद्धविधियों और पद्धतियों से लड़ते हैं। सैन्यकर्म की विशेषता के आधार पर ही उनका विभाजन किया गया है, वर्ण या जाति के आधार पर नहीं। महाभारतकार ठीक ही कहते हैं कि महासत्व और बलवान शूर सब-कहीं होते हैं।[५४] जाति और कुल से एक समान होने पर भी लोग उद्योगशीलता, रूप, बुद्धि और गुण में समान नहीं होते,[५५] अतः स्पष्ट है कि वीरता और कायरता सब जातियों में विद्यमान हैं। महाभारत में अकुलीनों को काम पर न लगाने की बात भी कही गयी है, परन्तु यहाँ कुलीनता से अभिप्राय उत्तम परिवेश में प्राप्त किये गये उत्तम संस्कारों से है। कुलीनता शब्द का प्रयोग यहाँ सर्वत्र इसी अर्थ में किया गया है। जाति और कर्म-संबंधी एक प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि मनुष्य का उत्थान और पतन उसके अपने कर्मों से होता है, फिर भी वर्णव्यवस्था में बंधे समाज में प्रारंभ में जाति मनुष्य को हीन स्थिति में ले आती है। परन्तु विशेष बात यह है कि जाति से हीन होता हुआ भी जो व्यक्ति श्रेष्ठ कर्म करता है, वही सही अर्थों में पुरुष कहलाने योग्य है।[५५] पराशर मुनि कहते हैं कि कर्म ही मनुष्य को दूषित करते हैं, अतः उसे हीन कर्म से बचना चाहिए।[५६]

महाभारत के विभिन्न आख्यानों और प्रवचनों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय वर्णव्यवस्था यद्यपि एक आदर्श समाज-व्यवस्था मानी जाती थी, परन्तु इसका सर्वांशतः पालन नहीं होता था, तभी तो कहीं-कहीं पर इसके गड़बड़ाने के संकेत मिलते हैं।[५७] शान्तिपर्व में आये पृथु के आख्यान में वर्ण-संकरता से विश्व की रक्षा की बात से भी यह बात प्रमाणित होती है।[५८] वर्ण-धर्म के विपरीत कार्य करने वाले ब्राह्मणों की मान-मर्यादा संबंधी एक प्रश्न के उत्तर में भीष्म जी ने कहा है कि त्रयी विद्या में पारंगत एवं स्वकर्मरत ब्राह्मण देवता के समान हैं। विद्या-लक्षण से सम्पन्न और समदर्शी ब्राह्मण ब्रह्मा के समान हैं। जातीय कर्म से हीन ब्राह्मण शूद्रतुल्य हैं।[५९] भीष्म जी के कथन से पता चलता है कि महाभारतकाल में 'आह्वयकं' (न्यायालयों में आवाज लगाने वाले), 'देवलकं' (वेतनभोगी पुजारी), 'नाक्षत्र' (ज्योतिष को व्यवसाय के रूप में अपनाने वाले) तथा 'महापथिकं' (दूर देशों का पर्यटन करते रहने वाले) ब्राह्मणों के ऐसे चार वर्ग भी थे। दूसरे वर्णों का काम करने वाले ब्राह्मणों को ब्राह्मण वर्ण की नहीं, बल्कि दूसरे वर्णों की प्रतिष्ठा ही मिलती थी, जैसे कि —

१. राज-ऋत्विक्, पुरोहित, मंत्री, दूत एवं सन्देश-वाहक क्षत्रिय के समान माना जाता था।

२. अश्वारोही, गजारोही, रथी और पैदल सेना में काम करने वाले ब्राह्मण वैश्यों के समान समझे जाते थे।

इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था कोई कट्टर समाज-व्यवस्था नहीं थी। शान्तिपर्व के ७७वें अध्याय में वर्णित केकयराज-राक्षस-संवाद भी इसी ओर संकेत करता है। फिर भी वर्णसंकरता एक बड़ा समाज-दोष मानी गयी थी। गीता में युद्ध के भयंकर परिणामों में इसकी भी गणना की गयी है। वस्तुतः अराजक, उच्छृंखल यौन-व्यवहार से संबद्ध होने से ही वर्ण-सांकर्य की बार-बार निन्दा की गयी है। युधिष्ठिर के कथन के प्रामाण्य से यह तो स्पष्ट ही है कि अन्तरजातीय विवाहों का उस समय प्रचलन था। विवाहों में प्रायः वर्ण की अपेक्षा आर्थिक स्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा की बराबरी का ध्यान अधिक रखा जाता था। द्रौपदी-स्वयंवर में ब्राह्मण-वेशधारी अर्जुन के लक्ष्यवेध करने पर द्रुपद-परिवार को जो दुःख हुआ था, उसका कारण अर्जुन का ब्राह्मण होना इतना नहीं था, जितना कि पाण्डवों का अरण्यवास और उनका हीन स्थिति में होना था। फिर वर्णव्यवस्था भारत उपमहाद्वीप के सब प्रदेशों में समान रूप से प्रचलित नहीं थी। 'बाहीक देश में एक व्यक्ति, कभी तो ब्राह्मण होता है, कभी क्षत्रिय बन जाता है, कभी वैश्य बन जाता है और कभी उसे शूद्र कहते हैं। एक समय में वह नाई बन जाता है, परन्तु बाद में ब्राह्मण बन जाता है। ब्राह्मण होने के बाद फिर दास बन जाता है।'[६०] यहाँ एक ही परिवार में कुछ ब्राह्मण होते हैं और कुछ स्वेच्छाचारी वर्णसंकर। गान्धार और मद्रदेश का भी ऐसा ही चलन बताया गया है।'[६१] दक्षिणवासियों का वृषलत्व[६२] और सौराष्ट्र में वर्णसांकर्य भी इसी

ओर संकेत करता है। आरट्ट देश और पञ्चनद प्रदेश में सनातन आचार की शिथिलता की बात भी यही संकेत देती है कि वर्णव्यवस्था की कठोर जकड़बन्दी कहीं भी नहीं थी।

महाभारतकाल के लोगों द्वारा अपने नामों के साथ तथा सम्बोधनों में जातिसूचक शब्दों का प्रयोग न करना इस बात का सूचक है कि उस समय वर्तमान काल जैसा जातीय अभिमान नहीं था। नामों की निरुक्तियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उस समय के नाम माता-पिता की महिमा का बोध कराते थे, व्यक्तिगत गुणों का परिचय देते थे, किसी पराक्रमपूर्ण कर्म का स्मरण दिलाते थे अथवा किसी दैवी सम्पदा को व्यक्त करते थे।

महाभारतयुगीन समाज में चण्डाल भी थे, परन्तु अस्पृश्यता का बोध कराने वाली कोई बात यहाँ नहीं मिलती। शूद्र की अस्पृश्यता का तो कहीं लेशमात्र भी संकेत नहीं मिलता। महाभारत के जैसे पौरुष-प्रधान समाज में पूर्व-निर्धारित कर्म या व्यवसाय के प्रति पक्का लगाव नहीं हो सकता था। यहाँ तो प्रत्येक व्यक्ति अपना मार्ग स्वयं बनाने में विश्वास करता है और परम्परा-प्राप्त ज्ञान को विचार और व्यवहार की कसौटी पर कस कर ही अपनाता है। गतानुगति का तो यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता। इन्हीं कारणों से महाभारतकाल में जातिवाद नहीं पनप सका। महाभारत में जो कुछ हजार प्रकीर्ण सूक्तियाँ हैं, उनमें कुछ अपवादों को छोड़ कर शेष सब, विभिन्न वर्णों की समता और सामंजस्य पर बल देती हैं, अतः आज के जातिग्रस्त और विषमतायुक्त समाज के लिये महाभारत एक उच्च आदर्श प्रस्तुत कर सकता है। तब, आजकल की तरह न तो कहीं अस्पश्यता थी और न शूद्रों पर अमानवीय अत्याचार ही होते थे। तब शूद्रों के लिये देवालयों की छाया में से चलना मना नहीं था। शूद्रदर्शन से कोई अपवित्र भी नहीं होता था। पानी भरने के अलग घाट और रहने की पृथक् बस्तियाँ भी महाभारत में कहीं दिखायी नहीं देतीं। अतः हम दृढ़ता-पूर्वक और साधिकार कह सकते हैं कि जातिवाद हमें उत्तराधिकार में नहीं मिला है।

राजकीय महाविद्यालय, रामपुर बुशहर
(हि० प्र०)

सन्दर्भ :

१. हिन्दू सोसाइटी ऐट ऑसरोड्ज : के० एम० पणिक्कर, पृष्ठ ४७
२. उपर्युक्त, पृष्ठ ४६
३. काण्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसॉफी : प्रो० ए० आर० वाडिया, पृष्ठ ४६
४. भारतीय दर्शन, प्रथम भाग : डा० राधाकृष्णन्, पृष्ठ १०३
५. अनुशासनपर्व, १६४।६–१२
६. सर्वे वर्णा ब्राह्मणा ब्रह्मजाश्च, सर्वे नित्यं व्याहरन्ते च ब्रह्म (शान्तिपर्व–३१८।८६)
७. कर्मतोऽन्यानि गोत्राणि समुत्पन्नानि पार्थिव (शान्तिपर्व २६६।१७–१८)
८. तस्माद् वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णा : संसृज्यन्ते तस्य विकार एव।
एकं साम यजुरेकमृगेक विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः॥
(शान्तिपर्व ६०।४७)
९. ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः (शान्तिपर्व ६०।४६)
१०. क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम् (शान्तिपर्व २२।६)
११. शूद्राभीरान् प्रतिद्वेषाद् यत्र नष्टा सरस्वती। (शल्यपर्व ३७।१)
१२. व्रींश्च शूद्रान् विनीतांश्च शुचीन् कर्मणि पूर्वके (शान्तिपर्व ८५।८)
१३. शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राजंल्लोकाः सर्वे संश्रिताः धर्मकामाः। (शान्तिपर्व ६३।६)

१४. सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः ॥ (शान्तिपर्व ६०।५३)
१५. अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ।
१६. यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ।
१७. नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः । ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ (शान्तिपर्व ६०।४५)
१८. उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकटे कृते ।
सर्वे वर्णा न दृष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ (शान्तिपर्व ७८।१८)
१९. ब्राह्मणः त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन्नदृष्यति (शान्तिपर्व ७८।२९)
२०. अपारे यो भवेद् पारमप्लवे यः प्लवो भवेत् ।
शूद्रो वा यदि वाप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ (शान्तिपर्व ७८।३८)
२१. मद्भक्ताञ्शूद्रसामान्यादवमन्यन्ति ये नराः ।
नरकेष्वेव तिष्ठन्ति वर्षकोटि नराधमाः ॥ (आश्वमेधिकपर्व : दाक्षिणात्य प्रति में आया श्लोक)
२२. वृषो हि धर्मो विज्ञेयस्तस्य यः कुरुते लयम् ।
वृषलं तं विदुर्देवा निकृष्टं श्वपचादपि ॥ (उपर्युक्त)
२३. न जात्या पूजितो राजन् गुणाः कल्याणकारणाः (उपर्युक्त)
२४. दुर्वृत्ता वा सुवृत्ता वा प्राकृता वा सुसंस्कृताः ।
ब्राह्मणा नावमन्तव्या भस्माच्छन्ना इवाग्नयः ॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिधर्मस्य शाश्वती ।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (दाक्षिणात्व प्रति के श्लोक)
२५. महाभारत, गीताप्रेस प्रकाशन, पृष्ठ ६३१९, श्लोक क्र० ७।८
२६. यतस्ततस्तु भुंजानस्तं विद्याद ब्रह्मदूषकम् ।
२७. शूद्रवेश्मनि विप्रेन क्षीरं वा यदि वा दधि ।
निवृत्तेन न भोक्तव्यं विद्धि शूद्रान्नमेतत् ॥
२८. एतान् विज्ञाय देशांस्तु संश्रयेरन् द्विजातय : ।
शूद्रस्तु यस्मिन् कस्मिन् वा निवसेद वृत्तिकर्षितः ॥
२९. चातुर्वर्ण्यस्य वर्णेन यदि वर्णो विभिद्यते ।
सर्वेषां खलु वर्णानां दृश्यते वर्णसंकरः ॥
कामः क्रोधो भयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः ।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्मात् वर्णो विभिद्यते ॥
स्वेद मूत्र पुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सशोणितम् ।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्मात् वर्णो विभज्यते ॥
जंगमानामसंख्येयाः स्थावराणां च जातयः ।
तेषां विविध वर्णानां कुतो वर्णविनिश्चयः ॥
३०. मनुस्मृति (१।१०८-१०९)
३१. सलिलादुत्थितो वह्निर्येन व्याप्तं चराचरम् ।
दधीचस्यास्थितो वज्रं कृतं दानवसूदनम् ॥ (आदिपर्व १३६।१२)
३२. क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः ।
विश्वामित्र प्रभृतयः प्राप्ताः ब्राह्मणत्वमव्ययम् ॥ (आदिपर्व (१३६।१४)
३३. शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ।

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत सर्प तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥ (वनपर्व १८०।२५–२६)

३४. वनपर्व, १८०।३२–३३

३५. सर्वदानानि दातव्यानि द्विजातिभ्यः

३६. चातुर्वर्ण्यस्य सर्वस्य वर्तमानः प्रतिग्रहे । (वनपर्व २००।१२)

३७. प्राप्य ज्ञानं ब्राह्मणात् क्षत्रियाद् वा वैश्याच्छूद्रादपि नीचादमीक्ष्णम् । शान्तिपर्व ३१८।८८)

३८. शान्तिपर्व, २९६।२३–२४

३९. न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो न चापि संस्कारमर्हतीति वा । (शान्तिपर्व ३९६।२७)

४०. इन्द्रो वै ब्राह्मणपूत्रः क्षत्रियः कर्मणाभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ (शान्तिपर्व २२।११)

४१. शान्तिपर्व, ३।३८

४२. यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतद्धि ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ (शान्तिपर्व ३।३०)

४३. तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते । (शान्तिपर्व २९५।१४)

४४. द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति ।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥
ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद् यथावच्चरितव्रतः ।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात् कंथचन । (शान्तिपर्व २।१२–१३)

४५. सूक्षेत्राच्च सुबीजाच्च पुण्यो भवति संभवः ।
अतोऽन्यतरतो हीनादवरो नाम जायते । (शान्तिपर्व २९६।४)

४६. उत्पाद्य पुत्रान् मुनयो नृपते यत्र तत्र ह ।
स्वेनैवतपसा तेषामृषित्वं विदधुः पुनः ॥ (शान्तिपर्व २९६।१३)

४७. तपसस्त्वपकर्षेण जातिग्रहणतां गतः ॥ (शान्तिपर्व २९६।३)

४८. शूद्रो ब्राह्मणातामेति, ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् । (मनुस्मृति १०।६५)

४९. धर्मचर्यया जघन्यो वर्णः पूर्व पूर्व वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ १ ॥
अधर्मचर्यया पूर्वो वर्णो जघन्यं जघन्यं वर्णमापद्यते जातिपरिवृत्तौ ॥ २ ॥
(आपस्तम्ब २।५।१०।१)

५०. शिक्षा और समाज-व्यवस्था—बर्ट्रेण्ड रसेल, पृष्ठ ३२ तथा ३५

५१. शान्तिपर्व, अध्याय १०१

५२. किंशीला किंसमाचाराः कथंरूपाश्च भारत ।
किं सन्नाहा कथंशस्त्राः जनाः स्युः संगरेक्षमाः ॥ शान्तिपर्व १०१।१)

५३. सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्वा महाबलाः (शान्तिपर्व १०१।६)

५४. जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ।
न चोद्योगेन बुद्धया वा रूपद्रव्येण वा पुनः ॥ (शान्तिपर्व १०७।३०)

५५. जात्या व कर्मणा चैव दुष्टं कर्म न सेवते ।
जात्या दुष्टश्च यः पापं न करोति स पुरुषः ॥ (शान्तिपर्व २९६।३३)

५६. शान्तिपर्व, २९६।३४

५७. देखिए, शान्तिपर्व, ६९।९२ तथा ९३ ५८. देखिए शान्तिपर्व ५९।१०८

५९. शान्तिपर्व, ७६।६ ६०. कर्णपर्व, ४५।६–७ ६१. कर्णपर्व, ४५।८ ६२. कर्णपर्व, ४५।२८

डा० जगदीश्वरप्रसाद

श्रद्धा और भारतीय दर्शन

श्रद्धा हृदय का वह भाव है, जिसके बिना व्यक्ति की प्रगति न तो व्यावहारिक क्षेत्र में संभव है, न आध्यात्मिक क्षेत्र में। मनुष्य के अस्तित्व के साथ यह अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ भाव है। यह शंका की विरोधी स्थिति है। जब हम किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा सिद्धान्त के प्रति इतने आश्वस्त हो जाते हैं कि उसकी क्षमता अथवा सत्यता के संबंध में सारी शंकाएं निर्मूल हो जाती हैं, तब उसके प्रति श्रद्धा या पूज्य भाव उत्पन्न होता है। पहले उसकी क्षमता के प्रति विश्वास उत्पन्न होता है, तब श्रद्धा का जन्म होता है। विश्वास और श्रद्धा दोनों साथ ही चलते हैं। श्रद्धा विश्वास का आवश्यक अनुषंग है। जिस वस्तु या तत्त्व में हमारा विश्वास होगा, उस के प्रति श्रद्धा अथवा पूज्य भाव का होना भी आवश्यक है। यही श्रद्धा अपने उदात्त रूप में भक्ति में परिणत हो जाती है। इस प्रकार विश्वास, श्रद्धा और भक्ति में चित्त की शक्ति क्रमशः उदात्त होती जाती है।

भावना का यह क्रैत तर्क अथवा शंका का सर्वथा विरोधी है। शंका और तर्क साथ-साथ चलते हैं। पहले किसी वस्तु के संबंध में शंका उत्पन्न होती है। उसके समाधान के लिये तर्क का सहारा लिया जाता है। तर्क की समाप्ति पर ही विश्वास का उदय होता है।

जीवन में सफलता के लिये तर्क आवश्यक है, किन्तु एक ऐसी स्थिति भी आवश्यक है जब तर्क की उलझन को पार कर हम किसी निर्णय के धरातल पर पहुंच जायें। यहीं से विश्वास और श्रद्धा के साम्राज्य का उदय होता है।

केवल शंका की स्थिति हमें कहीं नहीं ले जाती। ऐसे व्यक्ति सत्य तक कभी पहुंच नहीं सकते, क्योंकि सत्य को पा लेने पर भी उस पर उनका विश्वास टिक नहीं पाता और इस प्रकार सत्य को पा लेने पर भी वे उसे पाने में असमर्थ रहते हैं। इसीलिये गीता में कहा गया है कि श्रद्धालु को ही ज्ञान मिलता है (गीता ४।३९)। बिना श्रद्धा की भावना के तथ्य तक पहुंच जाने पर भी संशय-सर्प के दंश का विष हमें मानसिक परितोष नहीं देता। इसीलिये भारतीय चिन्तन में श्रद्धा को विशेष महत्व दिया गया है।

भारतीय दर्शनों में जो शब्द को प्रमाण के रूप में, सत्य

को जानने के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है, उसके मूल में भी श्रद्धा की भावना वर्तमान है। शास्त्रों की उक्ति अथवा अपने गुरुजनों की वाणी में श्रद्धा रख कर भी व्यक्ति अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है।

सामान्य व्यक्ति के लिये, जिसकी प्रतिभा विशेष रूप से विकसित नहीं हुई है, श्रद्धा का और भी महत्व है। ऐसे व्यक्ति में वह प्रतिभा अथवा क्षमता नहीं होती कि वह अपने जीवन में आने वाली सभी प्रकार की बाधाओं की संभावनाओं पर विचार करते हुए अपने लिये निरापद मार्ग का निर्धारण कर सके। इसलिये शास्त्रों के वचन अथवा गुरुजनों के निर्देश पर यदि श्रद्धा रख कर वह उसका अनुसरण करता है तो उसका उद्धार निश्चित है। यह मानी हुई बात है कि शास्त्र-प्रणेता ऋषि अथवा जीवन के समुचित विकास के मार्ग के अन्वेषक गुरु सामान्य व्यक्ति से कहीं अधिक प्रतिभाशाली थे। अतः उन्होंने जीवन का जो राजमार्ग निर्मित कर दिया है, उस पर चल कर मनुष्य सहज ही अपने लक्ष्य तक पहुंच सकता है। श्रद्धा रखने की क्षमता विकसित कर लेने पर उसकी जीवन-यात्रा तो सहज हो ही जाती है, अपने व्यक्तित्व को अपने से महान के चरणों में समर्पित कर मानसिक निश्चिंतता प्राप्त करने का सुख भी उसे मिलता है। कोई महान उसका रक्षक है, पथ-निर्देशक है, इसकी अनुभूति उसे बहुत बड़ी शक्ति और निश्चिंतता प्रदान करती है। ऐसे श्रद्धालुओं के संबंध में गीता में स्पष्ट कहा गया है कि सामर्थ्ययुक्त व्यक्ति तो ध्यान के द्वारा, सांख्य अथवा कर्मयोग के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं, किन्तु यदि सामर्थ्यरहित व्यक्ति श्रद्धापूर्वक दूसरे से सुनकर आचरण करें तो उन्हें भी वही फल मिलता है (गी० १३। २५)। यदि श्रद्धा का समुचित विकास हो गया तो उचित संयम का व्यतिक्रम होने पर व्यक्ति की दुर्गति नहीं होती। वह योग-भ्रष्ट नहीं होता (गी० ६।३७)।

श्रद्धा का महत्व प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में प्रतिपादित है। योगदर्शन में श्रद्धा को योग-सिद्धि का प्रथम सोपान बताया गया है।[१] सारा पूर्वमीमांसा-दर्शन वेद के विधि-वाक्यों पर अन्ध श्रद्धा रखने का उपदेश देता है। बुद्धि-वादी होते हुए भी जैन दर्शन में श्रद्धा को पर्याप्त महत्व दिया गया है। वहां मोक्ष के लिये सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र को आवश्यक माना गया है। इनमें सम्यक् दर्शन से तात्पर्य है सभी प्रकार की शंकाओं का त्याग कर भगवान महावीर के वचन में श्रद्धा।[२]

तुलसीदास जी ने तो श्रद्धा और विश्वास को जीवन का सबसे आवश्यक उपकरण माना है। मानस का आरम्भ करते समय भवानी और शंकर को उन्होंने श्रद्धा और विश्वास के रूप में देखा है। श्रद्धा को उन्होंने इतना महत्व इसलिये दिया है कि बिना आराध्य पर पूर्ण श्रद्धा हुए भक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। जिस पर भगवान की कृपा होती है, उसके सभी संशयों को वे नष्ट कर देते हैं। वे संशयरूपी सर्प को नष्ट करने के लिये गरुड़ के समान हैं।[३]

काक भुशुन्डी के काकयोनि में जन्म लेने का कारण उनका अतिशय शंकाकुल हृदय ही था। जिन लोमश ऋषि को उन्होंने अपना गरु मान लिया था और जिनके पास वे शंका-निवारणार्थ गये थे, उनके वचन पर उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था। वायस के समान वे शंकित हो रहे थे। इसीलिये ऋषि ने उन्हें काक-योनि में जन्म लेने का शाप दिया।

परमात्मा के स्वरूप-ज्ञान के लिये जो हृदय में ज्ञान का दीपक जलाया जाता है, उसके लिये घृत श्रद्धारूपी धेनु से ही मिलता है। इस प्रकार ज्ञान-दीप की ज्योति जलाने का प्रथम उपकरण श्रद्धा है—सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जो हरि कृपा हृदय बसि आई। रा० च० मा०, उ० ११६।५

श्रद्धा ज्ञान अथवा अनुभूति, दोनों क्षेत्रों की प्रथम अपेक्षा है। ज्ञान की प्राप्ति में श्रद्धा के महत्व का निरूपण करते हुए लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में कहा है कि 'ज्ञान की पूर्ति अथवा फलरूपता श्रद्धा के बिना नहीं होती' (पृ० ४०६)। सूर्योदय के उदाहरण द्वारा श्रद्धा का महत्व प्रतिपादित करते हुए उन्होंने कहा है कि हम आज सूर्य का उदय देख कर यह जो मान लेते हैं कि कल भी सूर्य इसी प्रकार उगेगा, इसके मूल में भी श्रद्धा या विश्वास ही छिपा हुआ है। आज सूर्य का उदय कल के

सूर्योदय का कारण नहीं हो सकता। इसलिये कल सूर्योदय होने का ज्ञान तर्क पर आधारित नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के ज्ञान को यदि अनुमान प्रमाण के अन्तर्गत कहा जाय तो इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि यह अनुमान बुद्धिगम्य कार्यकारणात्मक नहीं है, प्रत्युत् इसका मूल श्रद्धात्मक ही है (वही, पृ० ४००)।

संसार का कोई कार्य केवल तर्क पर नहीं चल सकता। संसार की सभी वस्तुओं की परीक्षा हम स्वयं करके नहीं चलते। किसी की बात पर विश्वास करके हम उसे सत्य मान लेते हैं,तभी हमारा काम चल सकता है। व्यावहारिक जीवन में श्रद्धा की अपेक्षा तिलक ने एक दूसरे उदाहरण द्वारा प्रतिपादित की है कि ऐसे बहुत कम मिलेंगे जिन्हें इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान है कि हिमालय की ऊंचाई पांच मील है या दस मील। भूगोल में पढ़ी हुई बात पर श्रद्धा रख कर हम उसकी ऊंचाई उन्तीस हजार फीट मान लेते हैं (वही, पृ० ४०८)। तात्पर्य यह कि संसार की प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हम व्यक्तिगत रूप से प्राप्त नहीं करते। दूसरे की कही हुई अथवा पुस्तक में पढ़ी हुई बात पर श्रद्धा रख कर ही हम अपने दैनिक जीवन के कार्य सम्पादित करते हैं। जो बातें हम स्वयं नहीं जानते, उन्हें दूसरे के कथन पर विश्वास करके सत्य मान लेते हैं। इन्हें सत्य माने बिना काम नहीं चल सकता।

बिना श्रद्धा अथवा आस्था के केवल तर्क की कसौटी पर सिद्ध दर्शन वैचारिक स्थिरता उत्पन्न नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति में वैचारिक स्थिरता नहीं है, जो प्रत्येक वस्तु को शंका की दृष्टि से देखता है, उसका विनाश निश्चित है। कारण यह है कि जब तक किसी एक बिन्दु पर मनुष्य की आस्था टिकती नहीं, वह उसे अपने आचरण में उतार नहीं सकता और इसलिये वह इधर-उधर भटकता ही रह जाता है। केवल तर्क बोध-वृत्ति को तृप्त करता है, किन्तु किसी वस्तु का ज्ञानमात्र जीवन के स्वस्थ विकास के लिये उपयोगी नहीं। बुद्धि द्वारा निर्णीत सिद्धान्त के साथ हृदय-पक्ष का जब तक संयोग नहीं होता, तब तक उसे आचरण में नहीं उतारा जा सकता। बुद्धि को हृदय के सम्पर्क में लाने वाली प्रथम वृत्ति श्रद्धा है। श्रद्धा के उदय के साथ-साथ तर्क का द्वार बन्द हो जाता है और हृदय की रागात्मकता के साम्राज्य का उदय होता है। इसीलिये श्रद्धाविहीन तर्क का आश्रय लेने वाले के संबंध में गीता में स्पष्ट घोषणा की गयी है कि ऐसे शकालु व्यक्ति का यह लोक तो नष्ट होता ही है, परलोक भी नष्ट हो जाता है (गी० ४। ४०)। संशयालु उलझन और भटकाव में नष्ट हो जाता है।

व्यावहारिक और आध्यात्मिक विकास के क्षेत्र में ही श्रद्धा आवश्यक नहीं, व्यक्ति के व्यक्तित्व-निर्माण में भी श्रद्धा का महत्वपूर्ण योग है। गीता में इस दृष्टि से श्रद्धा की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि श्रद्धा ही मनुष्य है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वह वैसा ही होता है (गी० १७। ३)। पुरुष भावमय है। भावना के विकास और परिष्कार पर उसका विकास और परिष्कार निर्भर रहता है। उसमें जिस प्रकार के भाव की प्रधानता होगी, उसी के अनुरूप उसका स्वभाव निर्मित होगा और उसकी सभी प्रकार की चेष्टाएं इसी स्वभाव के आधार पर निर्धारित होंगी। व्यक्ति का स्वभाव गुणों द्वारा निर्मित होता है। अतः जिस व्यक्ति में जिस गुण की प्रधानता होती है, उसकी श्रद्धा उसीके अनुरूप निर्मित होती है। सतोगुण-प्रधान व्यक्ति सतोगुणी वस्तुओं पर श्रद्धा रखता है, रजोगुणी रजोगुण-प्रधान वस्तुओं पर और तमोगुणी तमोगुण-प्रधान वस्तुओं पर। इस प्रकार विशेष प्रकार के भाव के अनुरूप ही व्यक्ति की श्रद्धा निर्धारित होती है। इस दृष्टि से श्रद्धा के सात्विक, राजस और तामस—ये तीन भेद परिकल्पित किये गये हैं (गी० १७। २)। सात्विक श्रद्धायुक्त पुरुष ऊर्ध्वगामिनी वृत्ति के कारण देवताओं की पूजा करता है, राजस श्रद्धा-युक्त मनुष्य क्रियात्मक वेग के कारण यक्ष एवं राक्षस जैसी क्रियाशील शक्तियों का उपासक होता है और तामस श्रद्धायक्त व्यक्ति जड़ोन्मुखी वृत्ति के कारण प्रेत एवं भूतगणों की उपासना में रत होकर अपनी दृष्टि अत्यन्त स्थूल स्तर तक ही सीमित रखता है। अतः व्यक्ति उत्तम, मध्यम वा अधम—कोई भी हो, उसकी प्रवृत्ति श्रद्धा द्वारा ही निर्मित होती है। भक्ति मार्ग के लिये तो श्रद्धा की और भी अपेक्षा है। भक्ति सम्पूर्ण आत्म-समर्पण की मांग करती है और यह तब तक संभव नहीं है, जब तक आराध्य के गुणों में पूर्ण श्रद्धा-भाव वर्तमान नहीं हो। इसीलिये भक्तिपरक ग्रंथों में श्रद्धा का विशेष निरूपण किया गया है। गीता में श्रद्धा तत्त्व

पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है। कृष्ण अर्जुन को युद्ध में नियोजित करना चाहते थे। वे जानते थे कि उसे जब तक उनके स्वरूप में दृढ़ आस्था नहीं होती, जब तक वह उनकी शक्तियों से पूर्णतया प्रभावित नहीं हो उठता, तब तक वह उनकी बात हृदय से नहीं मान सकता। इसीलिये वे उसे अपने विराट् रूप का दर्शन कराते हैं, अपनी शक्तियों का परिचय देते हैं। कृष्ण इस तथ्य से अवगत थे कि बिना स्वरूपज्ञान के विश्वास नहीं होता और बिना विश्वास के प्रेम नहीं होता।[४]

कृष्ण श्रद्धा का महत्व प्रतिपादित करते हुए अर्जुन को उनके ऊपर, उनके सिद्धान्तों पर, श्रद्धा, भक्ति रखने को कहते हैं। भक्त को अपनी शक्ति पर नहीं, ईश्वर की शक्ति पर भरोसा रखना है। जो उनके सिद्धान्तों पर श्रद्धा रखते हुए उनकी उपासना करते हैं, वे उनके अतीव प्रिय हैं (गी० १२। ३०)। यह आवश्यक नहीं कि केवल कृष्ण के एक ही रूप पर श्रद्धा की जाय। किसी भी रूप को उसका विषय बनाया जा सकता है। जिस देवता की वह उपासना करता है, उसकी वैसी ही श्रद्धा को कृष्ण स्थिर कर देते हैं (गी० ७। २१)। जो जिस प्रकार की श्रद्धा से युक्त होकर परमात्मा की आराधना करता है, उसकी भावना उसी कोटि की हो जाती है, वह उसी प्रकार की श्रद्धा से युक्त हो जाता है और उसी के अनुरूप आचरण करने लग जाता है।

ईश्वर की करुणा और प्रपत्ति पर विश्वास न करने वाले और केवल बौद्धिक धरातल पर उसका विश्लेषण करने वाले संसार-चक्र में ही घूमते रहते हैं। किसी कार्य में उन्हें स्थायित्व नहीं प्राप्त होता (गी० ९। ३)।

श्रद्धा, श्रद्दधान, श्रद्धावान, श्रद्धामय जैसे शब्दों के अनेक बार प्रयोग से यह स्पष्ट है कि गीता में इस तत्त्व को विशेष महत्व दिया गया है।[५]

गीता के अन्त में श्रद्धा के महत्व की स्थापना करते हुए कहा गया है कि कृष्ण का यह उपदेश उन्हींके लिये सार्थक हो सकता है, जो इस पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं। श्रद्धा-विरहित पाठ का कोई परिणाम नहीं होता, क्योंकि ऐसा पाठ हृदय का स्पर्श नहीं करता। तर्कयुक्त, श्रद्धारहित बुद्धि से इन के सिद्धान्तों के सम्यक् चिन्तन और विश्लेषण से कोई परिणाम निकलने का नहीं। इसके विपरीत तर्क के क्षेत्र से अलग रह कर जो श्रद्धापूर्वक इस उपदेश का श्रवण मात्र करता है, वह भी पुण्य करने वालों के पवित्र लोक को प्राप्त करता है।[६]

अध्यक्ष हिन्दी विभाग,
जी० एल० ए० महाविद्यालय,
डाल्टनगंज (पलामू), बिहार

संदर्भ :

१. श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्। यो० सू० १।२०
२. तत्त्वार्थे श्रद्धानं सम्यक्दर्शनम्। सर्वदर्शन संग्रह, आर्हत् दर्शनम्, प० ६१
३. संशय सर्प ग्रसन उरगादः। शमन सुकर्कश तर्क विषादः। रा० च० मा०, अरण्यकाण्ड, १०।५
४. जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती।
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई। रा० च० मानस, उत्तर काण्ड। ८८।४
५. गी० ३।३१, ४।३९, ४०, ६।३७, ४७, ७।२१, ९।२३, १२।२, २०, १७।२, ३, १३, १८।७१।
६. श्रद्धाविननसूयरुप शृणयादपि यो नरः। सोपीमुक्तः शुभांल्लोकान्प्राप्नुयात्पृण्य कर्मणाम्। गी० १८।७१

ओमप्रकाश एवं शीतलाप्रसाद

भारतीय श्रमिक-आन्दोलन

(३)

पंचम चरण

इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस

'इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (इण्टक) की स्थापना १९४७ ई० में राष्ट्रीय नेताओं के समर्थन एवं सहयोग से की गयी। स्वातंत्र्य-आन्दोलन के संबंध में राष्ट्रीय नेताओं के बहुत दिनों तक कारागार में रहने के कारण आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) में साम्यवादियों का बहुमत हो गया था। देश में औद्योगिक संबंध दिनोंदिन बिगड़ता जा रहा था, हड़तालों की संख्या में भी वृद्धि होती जा रही थी और ऐसा प्रतीत होता था कि राष्ट्रनिर्माण की योजनाएं प्रगति-पथ पर आगे न बढ़ सकेंगी।

राष्ट्रीय कांग्रेस के नेताओं ने यह अनुभव किया कि यदि श्रमिक वर्ग हड़ताल, तोड़फोड़ आदि विध्वंसकारी कार्यों में ही संलग्न रहेगा तो देश का सर्वांगीण विकास संभव न हो सकेगा। साथ ही देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति में श्रमिकों के वेतन, कार्य-स्थिति आदि समस्याओं में वांछित परिवर्तन भी लाना व्यावहारिक न होगा। ऐसी दशा में श्रमिक वर्ग को राष्ट्रीय उद्देश्यों की पूर्ति हेतु रचनात्मक प्रणाली अपनाने के लिये प्रवृत्त करना नितांत आवश्यक समझा गया। फलस्वरूप हिन्दुस्तान मजदूर सेवक संघ ने देश के श्रम-संगठनों के नेताओं की एक बैठक सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में १९४७ ई० में आयोजित की, जिसमें दो सौ से अधिक प्रतिनिधियों ने भाग लिया। अधिवेशन में 'इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस' (इण्टक) नाम से एक केन्द्रीय संगठन की स्थापना का निश्चय किया गया। इण्टक की स्थापना के बाद राष्ट्रीय विचारधारा के सभी श्रम-संघ आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस से अपना संबंध-विच्छेद कर इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इण्टक) से संबद्ध हो गये।

मई, १९४७ ई० में राष्ट्रीय श्रमिक कांग्रेस (इण्टक) की स्थापना उस ऐतिहासिक आवश्यकता का परिणाम था, जो इस देश के उन प्रमुख श्रमिक-नेताओं द्वारा अनुभव की जा रही थी, जिन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास था कि संगठित श्रमिक-आन्दोलन केवल आर्थिक, राजनीतिक

अथवा सामाजिक आन्दोलन नहीं है, वरन् देश में समाजवादी व्यवस्था लाने के लिये एवं राष्ट्र को सुदृढ़ बनाने के लिये भी नितान्त आवश्यक है।

इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के प्रथम सभापति डा० सुरेशचन्द्र बनर्जी और मुख्य सचिव श्री खंडूभाई देसाई चुने गये। १९४८ ई० में श्री हरिहरनाथ शास्त्री इसके अध्यक्ष निर्वाचित हुए। तदनन्तर वे इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इण्टक) के महामंत्री चुने गये और उक्त महत्वपूर्ण पद पर आजीवन (अपनी आकस्मिक मृत्यु पर्यन्त—दिसम्बर, १९५३ ई०) वे पदासीन रहे।

राष्ट्रीय श्रमिक कांग्रेस के उद्देश्य इस प्रकार निश्चित किये गये :

(अ) १. समाज की ऐसी व्यवस्था स्थापित करना, जो समाज के प्रत्येक व्यक्ति के चतुर्दिक विकास के मार्ग में किसी भी प्रकार की बाधा से मुक्त हो, जो मानव के व्यक्तित्व को सर्वांगीण ऊँचा उठाने में सहायक हो, जो सामाजिक, राजनीतिक या आर्थिक क्षेत्र में शोषण और विषमता को, आर्थिक प्रवृत्तियों व समाज-व्यवस्था में लाभ के तत्त्व को और किसी भी रूप में समाज-विरोधी शक्ति के केन्द्रीयकरण को नष्ट करने के लिये बढ़ती हुई गति से अन्तिम सीमा तक अग्रसर हो।

२. ऊपर के उद्देश्य को शीघ्र और कम से कम समय में पूरा करने के लिये उद्योग को राष्ट्रीय नियंत्रण और अधिकार में उचित रूप से रखना।

३. समाज का ऐसे रूप में संगठन करना, जिसमें उसके मनुष्य-बल तथा दूसरे साधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग हो सके और वे व्यर्थ न हों।

४. उद्योग के काम-काज को चलाने में श्रमिकों के बढ़ते हुए सहयोग को प्राप्त करना तथा उद्योग के नियंत्रण में उनका पूरा-पूरा भाग प्राप्त करना।

५. श्रमिक वर्ग के सामाजिक, नागरिक, और राजनीतिक हितों को सामान्यतया बढ़ाना।

(आ) १. खेतिहर सहित सभी प्रकार के श्रमिकों को प्रभावशाली ढंग से पूर्णतया संगठित करना।

२. संबद्ध संगठनों की प्रवृत्तियों का मार्गदर्शन करना और उन्हें एक सूत्र में बांधना।

३. श्रमिक-संगठनों की रचना में सहायता करना।

४. प्रत्येक उद्योग के श्रमिकों को देशव्यापी संगठन बनाने में प्रोत्साहित करना।

५. राष्ट्रीय श्रमिक कांग्रेस की प्रादेशिक अथवा प्रान्तीय शाखाएं स्थापित करने में सहायता देना।

(इ) १. श्रमिकों के काम करने की, जीवन की दशाओं में तथा उद्योग और समाज में उनके स्थान व श्रेणी (दर्जे) में शीघ्रतापूर्वक सुधार करना।

२. श्रमिकों के लिये सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था कराना, जिनमें अकस्मात दुर्घटना, प्रसूति, बुढ़ापा और बेकारी के समय के लिये पर्याप्त व्यवस्था रहे।

३. दैनिक काम करने वाले प्रत्यक श्रमिक के लिये जीवन-निर्वाह-वेतन प्राप्त करना और श्रमिकों के रहन-सहन के स्तर में अनवरत सुधार करवाना।

४. श्रमिकों के स्वास्थ्य, आराम और सांस्कृतिक विकास के लिये आवश्यक तथा अनुकूल काम के घंटों व काम करने की अन्य परिस्थितियों की व्यवस्था करना।

५. श्रमिकों की दशा सुधारने के लिये उचित वैधानिक व्यवस्था प्राप्त करना तथा उनकी रक्षा व उन्नति के लिये विधानों (कानूनों) को बराबर व्यवहार में लाने की व्यवस्था करना।

(ई) १. न्यायपूर्ण औद्योगिक संबंध स्थापित करना।

२. श्रमिकों के कष्टों व शिकायतों को, काम बन्द न होने देते हुए परस्पर बातचीत व समझौते से और यह सम्भव न होने पर पंच या न्यायाध्यक्ष द्वारा दूर करना।

३. जहां न्यायाध्यक्ष नियुक्त करने की मांग न स्वीकृत हो और पंच द्वारा उचित समय में विवाद सुलझाने की संभावना न हो, वहां हड़ताल या किसी भी दूसरे उचित रूप में सत्याग्रह आदि न्यायसंगत उपायों को अपनाना।

४. अधिकृत हड़ताल अथवा सत्याग्रह का सचारु रूप से संचालन करने तथा उसको संतोषजनक व शीघ्र ढंग से सफल बनाने या अन्त लाने के लिये आवश्यक व्यवस्था करना।

(उ) १. श्रमिकों में एकता, सेवा, बन्धुत्व, सहयोग और परस्पर सहायता की भावना को प्रोत्साहित करना।

२. श्रमिकों में उद्योग व समाज के प्रति उत्तर-दायित्व की भावना बढ़ाना।

३. श्रमिकों की कार्यक्षमता व अनशासन के स्तर को ऊंचा उठाना।

(ऊ) उपर्युक्त उद्देश्य को प्राप्त करने के लिये सत्ययुक्त, शान्तिमय साधन ही स्वीकार किये जायेंगे।

स्थापना के समय से ही इण्टक प्रगति-पथ पर बढ़ती रही है। स्थापना के समय ३५ श्रम-संघ, जिनकी सदस्य-संख्या १,५७,००० थी, इससे संबद्ध हुए। 'अहमदाबाद टेक्सटाइल लेबर एसोशियेसन' अपनी ६०,००० से अधिक सदस्य-संख्या के साथ इस संगठन से सर्वप्रथम संबद्ध हुआ। विगत कुछ वर्षों में इण्टक की संगठनात्मक स्थिति इस प्रकार रही है :

अधिवेशन वर्ष	स्थान	सदस्य-संख्या
११वां १९६०	दिल्ली	१४,००,५७९
१२वां १९६१	यमुनानगर	१६,६३,८९३
१३वां १९६२	कलकत्ता	१६,३६,४५८
१४वां १९६३	जयपुर	१७,२२,६२१
१५वां १९६४	हैदराबाद	१७,७६,१६१
१६वां १९६५	भिलाई	१८,८६,६२५
१७वां १९६८	अहमदाबाद	१९,०४,४९९
१८वां १९६९	क्विलन	१९,८२,११६
१९वां १९७१	नागपुर	२१,७६,४२०
२०वां १९७४	बम्बई	२३,८०,११५
२१वां १९७८	इन्दौर	३२,४८,३५४

इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस ने सभी राज्यों में अपनी प्रान्तीय शाखाएं स्थापित की हैं, साथ ही औद्योगिक महासंघों (फेडरेशन) के गठन में भी प्रोत्साहन दे रही है। इण्टक ने अपने अन्तर्गत निम्नलिखित महासंघों का गठन अब तक किया है :

१. इण्डियन नेशनल सीमेंट एंड एलाइड वर्कर्स फैडरेशन
२. इण्डियन नेशनल कैमिकल वर्कर्स फैडरेशन
३. इण्डियन नेशनल डिफेंस वर्कर्स फैडरेशन
४. इण्डियन नेशनल पोर्ट एंड डौक वर्कर्स फैडरेशन
५. इण्डियन नेशनल इलैक्ट्रिसिटी वर्कर्स फैडरेशन
६. इण्डियन नेशनल फूड एंड ड्रिंक वर्कर्स फैडरेशन
७. नेशनल फैडरेशन आफ गवर्नमेंट आफ इण्डिया प्रेस वर्कर्स
८. आल इण्डिया नेशनल लाइफ इंश्योरेंस एम्प्लाइज फैडरेशन

६. इण्डियन नेशनल मेटल वर्कर्स फैडरेशन
१०. इण्डियन नेशनल माइन वर्कर्स फैडरेशन
११. इण्डियन नेशनल म्युनिसिपल एंड लोकल बाडीज वर्कर्स फैडरेशन
१२. इण्डियन नेशनल पेपर मिल वर्कर्स फैडरेशन
१३. नेशनल फैडरेशन आफ पैट्रोलियम वर्कर्स
१४. इण्डियन नेशनल प्लाण्टेशन वर्कर्स फैडरेशन
१५. इण्डियन नेशनल शुगर मिल वर्कर्स फैडरेशन
१६. इण्डियन नेशनल टैक्सटाइल वर्कर्स फैडरेशन
१७. इण्डियन नेशनल ट्रान्सपोर्ट वर्कर्स फैडरेशन
१८. नेशनल फैडरेशन आफ इंडियन रेलवेमेन
१६. आल इंडिया कैण्टोनमेंट बोर्ड एम्प्लाइज फैडरेशन
२०. इंडियन नेशनल बिल्डिंग एंड कन्स्ट्रक्शन वर्कर्स फैडरेशन
२१. इंडियन नेशनल रूरल लेबर फैडरेशन
२२. इंडियन नेशनल कमर्शियल एंड सेलरीड एम्प्लाईज फैडरेशन
२३. इंडियन नेशनल बैंक एम्प्लाईज कांग्रेस
२४. आल इंडिया कांफेडरेशन आफ बैंक आफिसर्स आर्गेनाइजेशन
२५. फैडरेशन आफ नेशनल पी०एंड टी० आर्गेनाइजेशन
२६. इंडियन नेशनल प्रेस वर्कर्स फैडरेशन

विगत कुछ वर्षों से इण्टक यह प्रयत्न भी कर रहा है कि महिलाएं अधिकाधिक अंश में श्रम-संघों की गतिविधियों में योगदान दे सकें। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत कर १६७५ ई० में महिला श्रमिक-समिति पुनर्गठित की गयी है। 'इंडियन नेशनल कौंसिल आफ यंग वर्कर्स' के माध्यम से निम्न कार्यक्रम भी संचालित किये जाते हैं :

१. व्यावसायिक प्रशिक्षण और युवकों की आजीविका के लिये प्रयत्न,
२. निरक्षरता दूर करना,
३. परिवार-कल्याण,
४. अपव्यय रोकना आदि।

अपनी विचारधारा को प्रोत्साहित करने के लिये तथा देशव्यापी गतिविधियों से परिचित कराने के लिये इण्टक अपने प्रधान कार्यालय तथा प्रादेशिक कार्यालयों से पत्रों का प्रकाशन भी करता है। प्रधान कार्यालय से 'इण्डियन वर्कर', मध्य प्रदेश-शाखा इन्दौर से दैनिक 'जागरण' तथा साप्ताहिक 'मजदूर संदेश', कोयम्बटूर से पाक्षिक तमिल पत्र 'श्रमिक', नागपुर से 'मजदूर आह्वान' धनबाद से 'खान मजदूर', बम्बई से मराठी साप्ताहिक 'कामगार', आसाम से आसामी साप्ताहिक 'मजदूर', हुगली से बंगला साप्ताहिक 'वर्तमान भारत', नाडियाद से गुजराती पाक्षिक 'श्रमिक', बड़ौदा से गुजराती पाक्षिक 'मजदूर पत्रिका', सूरत से गुजराती साप्ताहिक 'श्रमजीवी', राजकोट से गुजराती पाक्षिक 'श्रमजीवन', कानपुर से मासिक 'मजदूर समाचार', तथा पटना से साप्ताहिक 'कर्मनायक' पत्र का प्रकाशन करता है। इसके अतिरिक्त प्रधान कार्यालय में एक अनुसंधान-विभाग भी स्थापित किया गया है, जो श्रमिक वर्ग के हितार्थ उपयोगी कार्य कर रहा है।

इण्टक सत्य, अहिंसा में पूर्ण विश्वास रखता है और औद्योगिक विवादों को विचार-विमर्श, वार्ता, संराधन, स्वैच्छिक पंचनिर्णय तथा अभिनिर्णय से तय करना चाहता है और सभी प्रयत्नों के विफल होने पर ही हड़ताल की सम्मति देता है। अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में विश्व स्वतंत्र श्रम-संघ (इन्टरनेशनल कनफैडरेशन आफ फ्री ट्रेड यूनियन) का इण्टक संस्थापक सदस्य है। इसे स्वतंत्र विश्व श्रम-संघ तथा अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संस्था से विभिन्न दिशाओं में सहयोग भी प्राप्त हुआ है। देश की यह प्रतिनिधि संस्था है और अन्तरराष्ट्रीय श्रम-संगठन की कार्यवाहियों में नियमित रूप से भाग लेती रही है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के पश्चात् उत्पादन में ह्रास के प्रश्न पर विचार-विनिमय करने के लिये दिसम्बर, १६४७ ई० में इन्डस्ट्रीज ट्रूस कान्फ्रेंस बुलायी गयी, जिसमें सरकार, सेवायोजक तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कान्फ्रेंस में यह प्रस्ताव पारित किया गया कि देश के आर्थिक विकास के लिये औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है और वह प्रबंधकों तथा श्रमिकों के पूर्ण सहयोग एवं मैत्री-संबंध से ही संभव हो सकती है। सेवायोजकों को उद्योग में श्रमिकों का समुचित योगदान स्वीकार करना होगा और उन्हें

उचित वेतन तथा समुचित कार्य करने की स्थिति प्रदान करनी होगी। श्रमिकों को अधिक परिश्रम से कार्य करके राष्ट्रीय आय में वृद्धि करनी होगी, तभी उनके जीवन-स्तर में स्थायी वृद्धि हो सकेगी। इन सभी समस्याओं का आपसी वार्ता के द्वारा हल निकालना चाहिए, जिससे उत्पादन पर कोई बुरा प्रभाव न पड़े।[१०९]

इन लक्ष्यों की पूर्ति के लिये कान्फ्रेंस ने निम्नलिखित संस्तुति की :

(१) पारस्परिक विवादों को समाप्त करने के लिये सरकारी प्रणाली का पूर्ण उपयोग किया जाय और जहाँ ऐसी सुविधा नहीं है, वहां शीघ्र व्यवस्था की जाय।

(२) केन्द्रीय और प्रान्तीय स्तर पर ऐसी प्रणाली स्थापित की जाय जो कर्मचारियों की कार्य-स्थिति तथा समुचित वेतन के संबंध में अध्ययन करे तथा निश्चय करे। साथ ही औद्योगिक उत्पादन के लिये, श्रमिकों के सहयोग की प्रणाली निकाले।

(३) दैनिक मतभेदों एवं विवादों को दूर करने के लिये वर्कर्स कमेटी की स्थापना की जाय, जिसमें प्रबंध के प्रतिनिधि तथा श्रमिक वर्ग के निर्वाचित प्रतिनिधि हों।

(४) कर्मचारियों के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने के लिये औद्योगिक आवास-समस्या की ओर अविलंब ध्यान देना चाहिए और इसका व्यय अनुपात से सरकार, सेवा-योजक तथा श्रमिकों से लिया जाय। श्रमिकों का अंश मकान के समुचित किराये के रूप में लिया जाय।[११०]

सरकार ने लाभांश के संबंध में विचार करने के लिये तथा सिफारिश करने के लिये एक कमेटी बैठायी, जिसमें श्रम-संगठनों की ओर से सर्वश्री खंडूभाई देसाई, अशोक मेहता तथा वी० वी० कार्णिक थे। समिति सर्वसम्मति से कोई संस्तुति न कर सकी। आगे चल कर 'लेबर अपेलेंट ट्रिब्यूनल' के एक निर्णय में दिये गये सिद्धान्तों के अनुसार लाभांश देने की रीति कुछ उद्योगों में अपनायी गयी।

हिन्द मजदूर सभा

राष्ट्रीय कांग्रेस से अलग होकर समाजवादी विचारधारा के नेताओं ने समाजवादी दल की स्थापना की, तदनन्तर उन्होंने अपनी विचारधारा के अनरूप एक केन्द्रीय श्रम-संगठन की आवश्यकता समझ कर 'हिन्द मजदूर पंचायत' की स्थापना की। इस संस्था में 'इण्डियन फेडरेशन आफ लेबर' भी विलीन हो गयी, फिर इसका नाम 'हिन्द मजदूर सभा' कर दिया गया। इसकी स्थापना दिसम्बर १९४८ ई० में हुई। इस संस्था को प्रारम्भिक दिनों में संचालित करने का श्री अशोक मेहता को श्रेय है, जिन्होंने प्रारंभिक दो वर्षों में मुख्य सचिव के रूप में इस संगठन को व्यवस्थित किया।

हिन्द मजदूर सभा के लक्ष्य तथा उद्देश्य निम्नलिखित निश्चित किये गये :

(१) भारतीय श्रमिक वर्ग के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक हितों का संवर्धन।

(२) संबद्ध श्रम-संगठनों की कार्यवाही में पथ-प्रदर्शन करना तथा उनका संयुक्तीकरण और उनके कार्यों में सहायता करना।

(३) नियोजन (नौकरी) संबंधी सब मामलों में श्रमिकों के हितों, अधिकारों तथा सुविधाओं को देखना, उनका संरक्षण करना तथा उनमें वृद्धि करना।

(४) एक ही उद्योग अथवा व्यवसाय के श्रम-संघों के महासंघ तथा राष्ट्रीय श्रम-संघ बनाने में सहायता देना।

(५) श्रमिकों के लिये इन अधिकारों की प्राप्ति और उनका संरक्षण करना :

(क) संगठन की स्वतंत्रता, (ख) सभा करने की स्वतंत्रता, (ग) विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता (घ) समाचार-पत्र की स्वतंत्रता, (ङ) काम करने और जीवन-निर्वाह का अधिकार (च) सामाजिक सुरक्षा का अधिकार, (छ) हड़ताल करने का अधिकार।

(६) भारत में प्रजातांत्रिक तथा समाजवादी समाज की स्थापना करना और उसका संवर्धन।

(७) सहकारी समितियों के निर्माण में सहायता देना तथा श्रमिक-शिक्षा में योगदान करना।

(८) देश तथा विदश के समान लक्ष्य एवं उद्देश्य रखने वाले संगठनों से सहयोग करना।

हिन्द मजदूर सभा इन लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की पूर्ति एवं वृद्धि के लिये सभी वैधानिक, शान्तिपूर्ण तथा प्रजातांत्रिक प्रणालियों का प्रयोग करेगी। हिन्द मजदूर सभा भी लगभग सभी राज्यों में प्रान्तीय शाखाएं स्थापित करने में सक्रिय रही है। संस्थापना के पश्चात् से कुछ राज्यों में उसकी सदस्य-संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। निम्न तालिका से हिन्द मजदूर सभा की प्रगति के संबंध में प्रकाश पड़ता है।

वर्ष	सदस्य-संख्या
१९५४–५५ . .	२,११,३१५
१९५५–५६. . .	३,०३,७९८
१९५६–५७. . .	२,३३,९९०
१९५७–५८. . .	१,९२,९४८
१९५८–५९. . .	२,४१,६३६
१९५९–६०. . .	२,८६,२०२

हिन्द मजदूर सभा ने 'सामूहिक सौदेबाजी' के पक्ष में अपना विचार व्यक्त किया है और अनिवार्य अभिनिर्णय प्रणाली की आलोचना की है। सामूहिक सौदेबाजी के संबंध में स्पष्ट किया गया है कि "प्रजातांत्रिक प्रणाली में सामूहिक सौदेबाजी एक आवश्यकता है। हड़ताल के अधिकार के बिना सामूहिक सौदेबाजी प्रभावपूर्ण नहीं हो सकती, अतएव हड़ताल को गैर कानूनी करार करना प्रजातांत्रिक अधिकार को न देना है।"

हिन्द मजदूर सभा ने बहुत सी हड़तालें भी संचालित की हैं, जिनमें बम्बई गोदी कर्मचारी, नागपुर और बम्बई के सूती वस्त्र-उद्योग-कर्मचारी तथा प्रीमियर आटोमोबाइल्स कर्मचारियों की हड़तालें उल्लेखनीय हैं। हिन्द मजदूर सभा 'हिन्द मजदूर पत्रिका' का प्रकाशन कर रही है।

हिन्द मजदूर सभा भारतीय श्रम-सम्मेलन, उसकी स्थायी समिति तथा अन्य समितियों में भाग लेती रही है। सम्बद्ध श्रम-संघों को अपनी गतिविधियों से परिचित कराने के लिये स्वतंत्र विश्वश्रम-संघ (इन्टरनेशनल कन्फैडरेशन आफ फ्री ट्रेड यूनियन) से सम्बद्ध है।

यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस

श्रमिक-नेताओं का एक दल इस विचारधारा का भी था कि श्रम-संगठनों को राजनीतिक प्रभाव से दूर रखना चाहिए। हिन्द मजदूर सभा की भी स्थापना से यह दल संतुष्ट नहीं था, अतएव इस विचारधारा के श्रमिक-नेताओं ने १९४९ ई० में 'यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की। इसके उद्देश्य एवं लक्ष्य ये हैं :

१. भारत में एक समाजवादी समाज की स्थापना,
२. भारत में किसान और मजदूर राज्य की स्थापना,
३. उत्पादन, वितरण के साधनों को समाजवादी ढांचे पर ले जाना तथा राष्ट्रीयकरण करना,
४. कर्मचारियों के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक—सभी संबंधित प्रश्नों पर उनके हितों एवं अधिकारों का संरक्षण तथा उनमें सुधार करना,
५. कर्मचारियों को भाषण देने की स्वतंत्रता, प्रेस की स्वतंत्रता, संगठन बनाने की स्वतंत्रता, एकत्रित होने की स्वतंत्रता, हड़ताल करने का अधिकार, कार्य करने का अधिकार, सामाजिक सुरक्षा का अधिकार आदि दिलाने का प्रयत्न करना,
६. श्रम-संघ-आन्दोलन में एकता लाना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस वैधानिक, शान्तिपूर्ण एवं प्रजातांत्रिक प्रणाली को अपनायेगी और हड़ताल का प्रयोग अन्तिम अस्त्र के रूप में ही करेगी।

नीचे की तालिका से यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस के विकास पर प्रकाश पड़ता है :

वर्ष	सदस्य-संख्या
१९५२–५३ . . .	१,२८,२४२
१९५३–५४ . . .	१,६३,९९७
१९५४–५५ . . .	१,९५,२४२
१९५५–५६ . . .	१,५९,१०९
१९५७–५८ . . .	८२,००१
१९५८–५९ . . .	९०,६२९
१९५९–६० . . .	१,१०,०३४

इस प्रकार अन्य तीन केन्द्रीय संगठनों—इण्टक, हिन्द मजदूर सभा तथा यू० टी० यू० सी० के बन जाने से एटक की शक्ति में पर्याप्त ह्रास हुआ और २३वें अधिवेशन के ५ वर्ष पश्चात् एटक का चौबीसवां अधिवेशन कलकत्ता में मई १९५४ ई० में हो सका। एटक की प्रान्तीय शाखाएं लगभग सभी राज्यो में हैं और पश्चिमी बंगाल, केरल, बम्बई, आन्ध्र, पंजाब राज्यों में उनकी स्थिति अच्छी समझी जाती है। निम्न तालिका से एटक की प्रगति के संबंध में प्रकाश पड़ता है .

वर्ष	सदस्य-संख्या
१९५२–५३ . . .	२,१०,९१४
१९५४–५५ . . .	३,०६,९६३
१९५५–५६ . . .	४,२२,८५१
१९५७–५८ . . .	५,३७,५६७
१९५८–५९ . . .	५,०७,६५४
१९५९–६० . . .	५,०८,९६२

इसके पश्चात् एटक की सदस्य-संख्या में पर्याप्त वद्धि हुई और १९७५ में इस संगठन के २५,८९,७९१ सदस्य थे।

एटक ने श्रम-संघ-कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षण देने के लिये १९५३ ई० में नागपुर में दो सप्ताह का प्रशिक्षण-कार्यक्रम चलाया था। एटक का पच्चीसवाँ अधिवेशन रजत जयन्ती के रूप में १९५७ ई० में अर्णाकुलम (केरल) में मनाया गया। इस अधिवेशन में वर्ल्ड फैडरेशन आफ ट्रेड यूनियन, सोवियत रूस की सेन्ट्रल कौंसिल आफ ट्रेड यूनियन्स, आल चाइना फैडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स, चैकोस्लोवाकिया के रिवोल्यूशनरी ट्रेड यूनियन मूवमेंट (आन्दोलन), रूमानिया के सेन्ट्रल कौंसिल आफ ट्रेड यूनियन्स आदि विदेशों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए।

प्रारंभिक दिनों में चारों केन्द्रीय श्रम-संगठनों–आल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक), इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इण्टक), हिन्द मजदूर सभा (एच० एम० एस०), यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (यू० टी० यू०सी०) से संबद्ध श्रम-संघों तथा उनकी सदस्य-संख्या का विवरण निम्न तालिका से प्रकट होता है :

(तालिका पृ० ५७ पर देखें)

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मार्शल प्लान को लेकर साम्यवादी तथा गैर साम्यवादी देशों में कुछ मतभेद बढ़ा। फलस्वरूप गैर साम्यवादी देशों के श्रम-संगठनों ने वर्ल्ड फैडरेशन आफ ट्रड यूनियन्स से अपना संबंध-विच्छेद कर लिया और १९४९ ई० में 'इन्टरनेशनल कानफेडरेशन आफ फ्री ट्रेड यूनियन्स' की स्थापना हुई। भारत में आल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस, वर्ल्ड फैडरेशन आफ ट्रेड यूनियन्स से पूर्ववत संबद्ध रहा। इण्टक और एच० एम० एस० इन्टरनेशनल कानफेडरेशन आफ फ्री ट्रेड यूनियन्स से संबद्ध हुए।

भारत के संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिये, उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय और अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म एवं उपासना की स्वतंत्रता तथा प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिये तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिये भारतीय नागरिकों के दढ़ संकल्प की घोषणा की गयी है।

(पृष्ठ ५६ से सम्बद्ध तालिका)

	१९५६		१९५७	
	संबद्ध श्रम-संघ	सदस्य-संख्या	संबद्ध श्रम-संघ	सदस्य-संख्या
इण्टक	६१७	९,७१,७४०	६७२	९,३४,३८५
एटक	५५८	४,२२,८५१	अप्राप्य	अप्राप्य
एच० एम० एस०	११९	२,०३,७९८	१३८	२,३३,९९०
यू० टी० यू० सी०	२३७	१,५९,००९	अप्राप्य	अप्राप्य

	१९५८		१९५९	
	संबद्ध श्रम-संघ	सदस्य-संख्या	संबद्ध श्रम-संघ	सदस्य-संख्या
इण्टक	७२७	९,१०,२२१	८८६	१०,२३,३७१
एटक	८०७	५,३७,५६७	८१४	५,०७,६५४
एच० एम० एस०	१५१	१,९२,९४२	१८५	२,४१,६३९
यू० टी० यू० सी०	१८२	८२,००१	१७२	९०,६२९

ये आंकड़े भारत सरकार ने जांच करने के बाद घोषित किये हैं।

संविधान के अनुच्छेद २३ द्वारा मानव प्राणियों के व्यापार, बेगार और अन्य बलपूर्वक काम कराने को निषिद्ध कर दिया गया है। अनुच्छेद २४ के अनुसार चौदह वर्ष से कम आयु वाले बच्चों को किसी कारखाने या खान में काम करने की या कोई संकटास्पद नौकरी की अनुमति नहीं है।

संविधान के भाग चार में 'राज्य-नीति के निदेशक सिद्धान्तों' का उल्लेख किया गया है। ये सिद्धान्त देश की शासन-व्यवस्था चलाने में आधारभूत माने गये हैं और सरकार का यह उत्तरदायित्व है कि विधान बनाकर लोगों के कल्याण के लिये इन सिद्धान्तों को लागू करे। भाग चार के अनुच्छेद ३९,४१,४२ और ४३ श्रम-नीति से संबंधित हैं, जो इस प्रकार हैं :

अनुच्छेद ३९ में राज्य द्वारा अनुगमन हेतु कुछ नीति के सिद्धान्तों का उल्लेख है। राज्य विशेष रूप से इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अपनी नीतियों का निर्देशन करेगा :

(क) सब नागरिकों (स्त्रियों और पुरुषों हेतु समान रूप से) के लिये जीवन-निर्वाह के पर्याप्त साधन जुटाना।

(ख) सार्वजनिक कल्याण के लिये समाज के भौतिक साधनों का समुचित वितरण।

(ग) सार्वजनिक हित के विरुद्ध धन के संकेन्द्रण को रोकना।

(घ) समान कार्य के लिये स्त्री-पुरुषों को समान वेतन प्रदान करना।

(ङ) श्रमिकों की शक्ति तथा स्वास्थ्य की सुरक्षा तथा ऐसी परिस्थितियों का विरोध करना जिनमें नागरिकों को अपने सामर्थ्य एवं आयु के प्रतिकूल उप-व्यवसायों का अनुसरण करने के लिये विवश होना पड़े।

(च) शैशव तथा किशोरावस्था का शोषण तथा नैतिक व भौतिक परित्याग से बचाव।

अनुच्छेद–४१–काम पाने तथा शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार प्रदान करना। बेकारी, बीमारी, बुढ़ापा और अंगहीन तथा अन्य अनुपयुक्त अभाव की दशाओं में सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने का अधिकार।

अनुच्छेद–४२ के अनुसार राज्य काम करने की यथोचित व मानवोचित दशाओं को सनिश्चित करेगा तथा प्रसूति-सहायता के लिये उपबन्ध करेगा।

अनुच्छेद–४३ का संबंध श्रमिकों के निर्वाह, पारिश्रमिक आदि से है। इसके अनुसार राज्य सबको काम, निर्वाह-पारिश्रमिक, शिष्ट जीवन-स्तर, अवकाश तथा सामाजिक व सांस्कृतिक अवसर प्रदान कराने का प्रयास करेगा। कुटीर उद्योगों की विशेष रूप से उन्नति की जायेगी।

(क्रमश:)

ार।

रने की यथोचित
रेगा तथा प्रसूति-

र्वाह, पारिश्रमिक
ो काम, निर्वाह-
तथा सामाजिक
प्रयास करेगा।
ति की जायेगी।

(क्रमश:)

डा० रमानाथ त्रिपाठी

शिक्षक और शिक्षा : श्री मोरारजी देसाई से एक भेंट

२८ अप्रैल, १९७९ के दिन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने दिल्ली विश्वविद्यालय-शिक्षक-मंच के हम कुछ अध्यापकों को सम्बोधित किया था। उसी के पूर्व-प्रसंग में हम चार अध्यापकों ने उक्त तिथि से तीन-चार सप्ताह पहले उनके निवास १, सफदरजंग मार्ग पर श्री देसाई से भेंट की थी। प्रधानमंत्री-निवास पर कोई सुरक्षा-अधिकारी हमें नहीं दिखायी दिया। एक अधिकारी ने हम चारों को सीधे उनके कक्ष में पहुंचा दिया था। वे बैठे-बैठे पतला सूत कात रहे थे। वे प्रधानमंत्री नहीं, मात्र एक गांधीवादी नेता लग रहे थे। अब तक मेरा स्वाभिमान किसी भी प्रधानमंत्री से मिलने में बाधक रहा था। जाते ही देसाई जी से झड़प सी हो गयी। मैंने थोड़ा नम्र होकर कहा——

"शायद मैं अपनी बात समझा नहीं पा रहा हूं।"

"आप खद ही नहीं समझते, समझायेंगे क्या ?"

मैं सकते में आ गया, यह बूढ़ा तो बोलने ही नहीं देता। हम में से दो अध्यापक लकदक टाई-सूट में थे। श्री 'क' ने अंग्रेजी में कुछ कहना चाहा। देसाई जी भड़क उठे, "क्या आपकी कोई भाषा नहीं है ?" 'क' हिन्दी में अपनी बात कहने की चेष्टा में हकला गये। तभी देसाई जी पुन: तड़प उठे, "आपकी अपनी पोशाक नहीं। आप नकल करते हैं। आप जैसे अध्यापक क्या शिक्षा देंगे ?"

'क' के साथ-साथ डा० मदन सांख्यधर अपनी टाई देखते हुए हतप्रभ हो उठे। कुर्ता-पाजामाधारी चांदला मुस्करा उठे। देसाई जी की आंखें मुझसे टकरायीं, मैंने झुक कर अपना बंद गले का कोट देखा। कुछ तो राहत अनुभव की।

"आज के अध्यापक कमीजें उतारकर बोट-क्लब पर प्रदर्शन करते हैं, क्या ये अध्यापक होने के योग्य हैं ?"

उनका संकेत उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों के अध्यापकों के आंदोलन की ओर था। हम इस आंदोलन के गलत नेतृत्व के स्वयं भी समर्थक नहीं थे। हमें दिल्ली विश्वविद्यालय, नेहरू विश्वविद्यालय, विश्वविद्यालय-अनु-

दान-आयोग आदि के संबंध में कई समस्याओं पर विचार करना था। हमारी निजी कोई मांग नहीं थी, हम तो वर्तमान स्थिति पर बात करना चाहते थे। किंतु देसाई जी नाक पर मक्खी ही नहीं बैठने दे रहे थे। मैंने अपने स्वर में उनकी जैसी कड़क लाते हुए पूछा—"आपने निर्भय होने के लिये कहा है। क्या मैं निर्भय होकर कुछ पूछ सकता हूं?"

"आप निर्भय होने की बात कहते हैं, इसका मतलब कि आप निर्भय नहीं हैं।"

"निर्भय हूं, किन्तु आप के प्रति सम्मान—"

"तब मेरा सम्मान नहीं, क्योंकि सम्मान में भय नहीं होता"

"ऐसा समझ लीजिए कि यह मेरे बोलने की शैली है।"

"तो बोलिए अपनी शैली में।"

वे सूत पीछे की ओर खींचते हुए थोड़ा-सा मुस्करा गये थे। मैं समझ नहीं पाया कि उनके होठ व्यंग्य से वक्र हैं अथवा कृत्रिम डांट भरे स्नेह से, किंतु जमकर बातें हुईं, सभी बातों को लिखना समीचीन न होगा। हमने शिकायतें कीं, नीतियों और प्रशासन के शैथिल्य की भी शिकायत की। देसाई जी ने हमारी बातें ध्यान से सुनीं, उनके समाधान के अपने ढंग के उपाय बताये। वे अपने जीवन के बारे में बहुत कुछ बताते रहे। हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि वे एक आदर्शवादी अध्यापक के पुत्र हैं।

"मैं जब इक्कीस वर्ष का युवा था—"

मेरा साहस और भी बढ़ गया था, बीच में ही बात काट कर बोला, "वह तो आप अब भी हैं। गणतंत्र-दिवस की परेड के अवसर पर सैनिक अधिकारी भी आप जैसी चुस्ती नहीं दिखा पाते। मेरा पुत्र कहता है, इस बुढ़ापे में भी देसाई जी लट्ठ से सीधे चलते हैं।"

देसाई जी मुस्करा गये, "साठ वर्ष की आयु तक यदि कमर को झुकने से बचा लिया जाय, तो फिर यह नहीं झुकती।"

अब 'क' की बारी थी—उन्होंने तुरन्त जड़ दिया, "तभी आप किसी के सामने नहीं झुकते।"

बात करते-करते डेढ़ घंटा होने को आया, हमें लग रहा था कि हम उनका समय नष्ट कर रहे हैं, किंतु वे हमें सरलता से छोड़ते नहीं दिखायी दे रहे थे। बोले—"और लोग मेरे साथ फोटो खिचाने आते हैं, मैं फोटो खिचा लेता हूं। उन्हें पांच मिनट से अधिक समय नहीं देता। आप लोग बात करने आये हैं, अतः आपसे बात कर रहा हूं।"

हमने बताया कि हम उन अध्यापकों में नहीं हैं, जो अधिकार मांगते हैं। आप अध्यापक और वर्तमान शिक्षा के बारे में जो कुछ कहना चाहते हैं, अधिक से अधिक अध्यापकों को बताइए। देसाई जी इसके लिये तैयार हो गये।

डा० सांख्यधर उठते हुए बोले, "हमें ऐसा अनुभव नहीं हो रहा था कि हम एक प्रधानमंत्री से बात कर रहे हैं।"

"यदि प्रधानमंत्री यह अनुभव करा दे कि वह प्रधानमंत्री है, तो वह सफल प्रधानमंत्री कहाँ?"

× × × ×

भेंट का दूसरा दौर

तो आज २८ अप्रैल वह अवसर था, जबकि देसाई जी कुछ अधिक अध्यापकों के साथ बात करने वाले थे। सायंकाल पौने पांच बजे बस अचानक बिगड़ गयी। उतरकर स्टकूर किया। साउथ ब्लाक का रास्ता मालूम नहीं था। प्रधानमंत्री के कार्यालय में पांच बजे से पहले ही पहुँच जाना था। स्कूटर की घरघराहट हृदय की धड़कनें बढ़ाये जा रही थी। समय पर न पहुँचा तो डांट पिलायेंगे—'आप शिक्षक होने के योग्य नहीं, आप ठीक समय पर आ तक नहीं सकते।' एक भवन के सामने स्कूटर रुक गया। यह एक गांधीवादी का निवास-स्थान नहीं था, प्रधानमंत्री का कार्यालय था। यहां-वहां सुरक्षा-सैनिक हल्की-फुल्की मशीनगनें लिये खड़े थे। पांच बजने में दो मिनट रह गये थे। मुझे शीघ्र ही एक बड़े कक्ष में पहुँचा दिया गया। वहां एक बड़ी

मेज के आसपास ५०–५५ अध्यापक बंधु बैठे थे, इनमें अधिकांश लोग आपातकाल के मेरे जेल-साथी थे। आज मैं राष्ट्रीय शिक्षानीति के प्रारूप पर विचार-विमर्श की तैयारी करके आया था।

ठीक पांच बजे देसाई जी आये। डा० सांख्यधर आज खादी का कुर्त्ता पहने थे, वे बहुत ही नम्र और धीमे स्वर में बोले, "आपने हमें बात करने का पुनः अवसर दिया, यह हमारा सौभाग्य है। हम जानना चाहते हैं कि हमारी आज की शिक्षा में क्या दोष हैं ?"

देसाई जी खनकते स्वर में बोल पड़े, "शिक्षक ही शिक्षा है। शिक्षा में क्या दोष हैं, यह नहीं समझते तो बात करना बेकार है।"

कुछ देर सन्नाटा छाया रहा। मैं देसाई जी का स्वभाव समझ चुका था, अतः आनंद ले रहा था। उनका प्रवचन चालू हो गया—

"किया क्या जाये ? शिक्षक भी इसी शिक्षा में पनपे हैं। वे जानबूझ कर खराब नहीं करते.....शिक्षा का हेतु क्या है ? भारत में जो शिक्षा-प्रणाली थी, विश्व में वैसी कहीं नहीं थी, इसीलिये ज्ञान पैदा हुआ। शिक्षा-पद्धति पहले स्वतंत्र थी। शिक्षक ही शिक्षा चलाते थे। जो पढ़ने आते थे, वे चलाते थे, इसीलिये स्वतंत्र होकर बाहर निकलते थे। आज विश्वविद्यालय से पढ़ निकल कर लोग मारे-मारे फिरते हैं, निराश घूमते हैं। शिक्षा ने क्या सिखाया ? शिक्षा को होना चाहिए कि व्यक्ति को सत्य की पहचान दे। हरएक मनुष्य सत्य पा सकता है। पाता नहीं, क्योंकि इच्छा नहीं करता। ऐसे भी लोग हैं, जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, किंतु सर्वज्ञानी है। राम-कृष्ण परमहंस कितना पढ़े थे ? उनके पास ईश्वरचंद्र विद्यासागर जैसे विद्वान ज्ञान प्राप्त करने जाते थे। विवेकानन्द को ज्ञान उन्होंने ही दिया।"

बीच में एक साथी अध्यापक बंधु ने कोई प्रश्न कर दिया, वे धीमे स्वर में बोले थे। 'अध्यात्म-अध्यात्म' जैसा कुछ सुनायी पड़ा। देसाई जी कठोर स्वर में बोले—

"आप शिक्षक होने के योग्य नहीं। आप सुन नहीं सकते, बीच में क्यों बोलते हैं ? हम अध्यात्म की बात करते रहे, भौतिकता छोड़ दी। दोनों प्रकार की संस्कृतियों में असंतोष है। मनुष्य चाहता है सुख, किन्तु व्याख्या करने में गड़बड़ा जाता है। दुःख में सुख समझता है, इसीलिये दुःख है। शिक्षा का हेतु होना चाहिए कि हरएक सीखने वाला व्यक्ति पहले अपनी शक्ति, अपनी मर्यादा को समझे। शक्ति को बढ़ाने के लिये सही पर चलना और गलत को छोड़ना होगा। हमें आत्मविश्वासी निर्णय लेना चाहिए, सत्यप्रिय बनना चाहिए। यह क्यों नहीं होता ? धर्म का शिक्षण न हो, ऐसा कर हमने गलती की। हिंदू, ईसाई, मुसलमान, क्या ये धर्म हैं ? ये तो धर्म सिखाने के लिये संप्रदाय हैं। धर्म एक है, मानव-धर्म। आहार-निद्रा-भय-मैथुन में मानव और पशु समान हैं। धर्म ही उसे पशु से अलग करता है। धर्म न रहने पर वह पशुवत ही है——धर्मेणहीनः पशुभिः समानः। मानव में विवेकबुद्धि है। सभी धर्मों में बुनियादी मानवधर्म है। जितने धर्म इस देश में हैं, कहीं नहीं हैं।

"मानवधर्म क्या है ?—मुझे कोई असत्य कहे तो मुझे पसन्द नहीं, कोई हानि पहुँचाये तो अच्छा नहीं लगता। कोई मेरी सहायता करे, तो हर्ष होता है,। यदि मैं दूसरे से ऐसा न करूँ, तो कैसे चलेगा ? यही सिखाना मानव-धर्म है—धर्मेणहीनः पशुभिः समानः। पशु कृतज्ञता नहीं भूलता। कृतज्ञता मानव में कम होती जा रही है। यह बुद्धि का दुरुपयोग है। मानवधर्म न सिखाये तो शिक्षा का क्या उपयोग ? पाठ्यक्रम में असत्य और पर-हानि की बात नहीं है, परन्तु जिस तरह सिखाया जाता है, वह ठीक नहीं है। विज्ञान का विद्यार्थी बिना प्रयोग किये ही लिखने की चेष्टा करता है। बुद्धि के ऐसे उपयोग को वह बुद्धिमत्ता समझता है। संस्कार न घर में मिलते हैं, न स्कूल में; न बाप देते हैं और न माँ। सच में माँ ही संस्कार दे सकती है, किंतु वह स्वयं ही नहीं समझती। आज के अध्यापक 'ट्यूशन' के लिये मरे पड़ते हैं।

"शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी होना चाहिए—यह मानना ही खराबी है। माध्यम क्षेत्रीय भाषाओं को होना चाहिए। ज्ञान-ग्रहण करने से पहले भाषा पर काबू पाना होता है। इस देश में बुद्धि ज्यादा है, किंतु विशेषज्ञ

बनने के लिये विदेश जाना पड़ता है बाहर से आये व्यक्ति की प्रतिष्ठा अधिक होती है। हम गलत हिंदी बोलें, गलत गुजराती बोलें तो नहीं शर्माते, गलत अंग्रेजी बोलने पर बहुत ही लज्जा का अनुभव करते हैं। जापानियों की अंग्रेजी सुनकर रोना आ जाता है। वे ज्ञानार्जन करने के लिये ही अंग्रेजी पढ़ते हैं, बोलने के लिये नहीं। मैंकाले हमें नकली अंग्रेज बना गया। नकल तो बंदर करता है। शिक्षा में मूलभूत परिवर्तन किये बिना कुछ नहीं बनता। हम भटक गये हैं। 'प्राइमरी' में सात-आठ विषय पढ़ाये जाते हैं। इतनी पुस्तकें लगी हैं कि बच्चा ले भी नहीं जा सकता। बोझा हल्का करना चाहिए। आज की शिक्षा ऐसी है कि साफ-सुथरा फिरना सम्मान की निशानी माना जाता है, मजदूर को आदर नहीं दिया जाता।

"आंदोलन क्या शिक्षक का काम है ? ....."

श्री 'क' हाथ उठाकर कुछ पूछना चाहते हैं, देसाई जी कुछ रुष्ट स्वर में कहते हैं—"थोड़ा सबर करना सीखो, शिक्षक में धैर्य अधिक होना चाहिए। जिसे देखो, आंदोलन के लिये तैयार। डाक्टर आंदोलन करते हैं, बेचारे रोगी ने क्या अपराध किया है ?"

श्री 'क' पुनः हाथ उठाकर अंग्रेजी में कुछ कहते हैं, देसाई जी गरम हो उठते हैं, "क्या मैं भी अंग्रेजी बोलूं ? माइंड, आई एम नाट योर स्टूडेंट, टुडे आई एम यूअर टीचर"।

श्री 'क' आरक्षण के विषय में विचार व्यक्त करना चाहते हैं, देसाई जी बिना सुने ही तड़प उठते हैं और प्रखर शब्दों में आरक्षण का समर्थन करते हैं। वे जातिप्रथा की आलोचना करते हैं, सत्यकाम की कथा सुनाते हैं।

श्री राणाप्रताप शर्मा इस अप्रिय स्थिति को टालने तथा फिर धारा को वांछित मोड़ देने के लिये नम्रतापूर्वक कहते हैं—

"शिक्षक को ऐसा शिक्षण देने की व्यवस्था नहीं है"।

"शिक्षक को स्वयं अपना शिक्षक होना चाहिए"।

डा० सांख्यधर ने राष्ट्रीय शिक्षा-नीति पर बात करने की इच्छा व्यक्त की। मैंने भी अपने तरकस से प्रश्न-तीर संभाले, किंतु देसाई जी ने इस पर बोलना अस्वीकार कर दिया।

उनके मुख से झर-झर, झर-झर शब्द निकलते जा रहे थे। लगता था कि भारत की धरती पर भारतीय अन्न-जल से पुष्ट कोई ऋषि-आत्मा महापुरुष कड़कते स्वर में बोल रहा है। वे बहुत कुछ कहते रहे।

हम बाहर निकले तो एक अध्यापक प्यार भरे स्वर में बोले—"बूढ़ऊ तो आज बहुत डांट पिला गये।"

डा० बंसल बोले, "हमें गर्व है कि हमें ऐसा सदाचारी और नैतिक प्रधानमंत्री मिला है"

"जो कि एक हितचिंतक सख्त बाप की तरह बोलता है" मैंने जोड़ दिया।

हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

देश
और
दिशा

डा० मदनलाल

बच्चे की शिक्षा : माता-पिता का योगदान

शिशु की उत्पत्ति के समय से ही उस की शिक्षा आरम्भ हो जाती है। बालक के परिवार में उसका लालन-पालन करते समय उसके माता-पिता अन्य सगे-संबंधी, पड़ोसी तथा इष्टमित्र आगन्तुक बच्चे की पैनी दृष्टि तथा सजग कानों द्वारा उसकी ज्ञान की वृद्धि में सहायक होते हैं। ऐसा तो प्रायः देखा जाता है कि बहुत छोटे बच्चे को कुछ सिखाने या उसके संकेतों और हंसी में उसके माता-पिता तथा अन्य लोग रुचि लेते हैं, किन्तु बच्चा अथाह गुणों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है और हमें उस की क्षमता को विकसित करना है, इस दृष्टिकोण से बहुत ही कम लोग सोचते तथा प्रयास करते हैं। कुछ थोड़े से शिशु-क्षमता से परिचित तथा जागरूक परिवारों को छोडकर अन्य भारतीय जनता में यह भावना प्रचलित है कि "बच्चे तो भगवान की देन हैं तथा प्रभु-कृपा से स्वयं सीख जायेंगे।" अतः अभिभावक बच्चे के खाने-पीने तथा वस्त्र आदि की व्यवस्था तो कर देते हैं, किन्तु उस की ज्ञानेन्द्रियों का पूरा उपयोग करके उसके बहुमुखी ज्ञान को विकसित करने की ओर ध्यान नहीं देते। अतएव बच्चे की सुशिक्षा के लिये उसके माता-पिता को भलीभांति संस्कारित करना आवश्यक है।

पश्चिम में कई देशों में मनोवैज्ञानिक ढंग से कई प्रयोग किये जाते हैं। जब कभी किसी बच्चे का पूर्ण विकास (growth) नहीं होता अथवा बच्चा वैसे तो बहुत नटखट या शरारती होता है, पर पढ़ाई-लिखाई में मन नहीं लगाता या शिष्ट व्यवहार नहीं करता तो ऐसे समस्याई बालक (Problem child) को सुधारने के लिये किसी अनुभवी मनोवैज्ञानिक की सेवाएं प्राप्त की जाती हैं जो बच्चे की विकट समस्या को समझने के लिये उसके माता-पिता तथा वातावरण का विश्लेषण करके समस्या की जड़ तक पहुंचता है। कई बार दोष बच्चे में न होकर उसके माता-पिता अथवा अन्य किसी व्यक्ति में होता है जिन्होंने बालक के विकास अथवा सुकोमल भावनाओं की ओर ध्यान न देकर अपनी किसी अवांछनीय हरकत से बच्चे पर बुरे संस्कार छोड़े और परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिक महाशय को बच्चे के साथ-साथ उन के माता-पिता का भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उपचार करना पड़ता है।

माता-पिता को शिशु के शारीरिक तथा मानसिक विकास के लिये भलीभांति शिक्षित करने के लिये कुछ समाज-सेवी संस्थाओं, जैसे—दीनदयाल शोध संस्थान* तथा पाठशाला में पिता-अध्यापक-सभा का योगदान आवश्यक है। आकाशवाणी तथा दूरदर्शन में प्रायः कई कार्यक्रम इस प्रकार के होते हैं, किन्तु समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग इन प्रचार-माध्यमों से वंचित रह जाता है। उदाहरण-स्वरूप सड़क पर काम करने वाली श्रमिक महिलाएं अपने बच्चों को वहीं सड़क के किनारे पलने के लिये छोड़ देती हैं, जहां विकास के न उपयुक्त साधन हैं और न ही वातावरण। इस प्रकार के लाखों माता-पिता शिशु-शिक्षा के बारे में सर्वथा अनभिज्ञ हैं। नगरों के अतिरिक्त ग्रामों में तो ऐसे अनभिज्ञ व्यक्तियों की संख्या कई गुना आगे है। अतः बच्चा, जो राष्ट्र-निधि है, अपने माता-पिता के सही मार्गदर्शन अथवा असहयोग के कारण अपनी शिक्षा की सबसे पहली घर की सीढ़ी भी नहीं चढ़ पाता।

सुयोग्य तथा सुचारु शिक्षा के लिये उसके माता-पिता का अनिवार्य योगदान इस प्रकार हो सकता है :

चूंकि बच्चे में सुनने तथा देखने की शक्ति तीव्र होती है, अतः इन दोनों के माध्यम से बच्चे के गुणों तथा बुद्धि का विकास होता है। बच्चे के समय का, जब वह जाग रहा होता है, अधिक से अधिक उपयोग करना चाहिए, जिससे बच्चे का शब्द-ज्ञान बढ़े। जैसे ही बच्चा बोलने लगता है, उससे बातें करके, संकेत करके, कुछ गा-बजाकर अथवा हाव-भाव दिखा कर उससे अधिक से अधिक शब्द और वाक्य बुलवाने का प्रयत्न करना चाहिए। बच्चे का थोड़ा और ज्ञान बढ़ने पर उसको पूजा-आरती तथा देवी-देवताओं के चित्रों से परिचित कराना चाहिए, भले ही माता-पिता स्वयं किसी मूर्ति-पूजा-पद्धति पर विश्वास करते हों या नहीं।

दो-ढाई वर्ष का बालक नर्सरी या किंडरगार्टन (Kindergarten) में जाने के योग्य हो जाता है। उससे पहले परिवार में यथासंभव खिलौनों, चित्रों, संगीत-यंत्रों आदि माध्यमों से बच्चे को भिन्न-भिन्न प्रकार की जानकारी मिल जानी चाहिए, जिससे बच्चे की औपचारिक (formal) शिक्षा के लिये यथोचित क्षमता तथा योग्यता बन सके।

परिवार में बच्चे के शारीरिक तथा बौद्धिक, दोनों प्रकार के विकास का ध्यान रखना आवश्यक है। जैसा कि कहावत है 'Sound mind in a Sound body' स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का वास होता है। अतः प्रारंभ से ही बच्चे के लालन-पालन के समय इन दोनों क्षेत्रों में समुचित ध्यान देना चाहिए। शरीर को हृष्ट-पुष्ट रखने के लिये माता-पिता को उसके भोजन (जिसमें प्रोटीनयुक्त पदार्थ, जैसे दूध-दही का विशेष स्थान होना चाहिए), उसकी स्वास्थ्य-रक्षा के लिये समय-समय पर चेचक, हैजा आदि रोगों के विरुद्ध टीके, उसकी तेल मालिश, स्नान, स्वच्छ वस्त्र, आदि का ध्यान रखना चाहिए।

माता-पिता के स्वयं के परस्पर संबंधों तथा बच्चे के प्रति उन दोनों का तथा परिवार के अन्य सदस्यों और इष्ट-मित्रों के व्यवहार का भी बच्चे के मानसिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है और किसी छोटी-छोटी बात पर झगड़ा होता है या पिता किसी शराब आदि बुरी आदत में फंसा होता है और बात-बात पर पत्नी को पीटता है तो इसका बच्चे के मन पर दुष्प्रभाव होता है। कई बार जब पिता शराब के नशे में धुत या किसी और कारण से क्रोध से लाल-पीला होकर मारपीट करता है तो बच्चे को अपने पिता पर क्रोध आता है, जो पिता के प्रति घृणा और भय में बदल जाता है और ऐसे बच्चे का स्वतन्त्र तथा निर्भीक रूप से विकास होने के बदले 'भग्न मनोवृत्ति' (fear complex) उसके अन्दर घर कर जाती है। अतः माता-पिता के यथासंभव अपने झगड़े बच्चे के सामने

*** दीनदयाल शोध संस्थान के अध्यक्ष श्री नानाजी देशमुख विशेष रुचि लेकर शिशुओं के सर्वांगीण विकास और शिक्षा के लिये एक प्रकल्प प्रारम्भ कर रहे हैं, जिसके ग्रामोदय-प्रकल्प (जिला गोंडा) के ही समान एक अभिनव प्रयोग के रूप में विकसित होने की आशा है। —सम्पादक**

नहीं करने चाहिए।

आजकल विज्ञान के अनेक
ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी
की जानकारी, जैसे–अन्त
का पहुंचना, समाचार-
आकाशवाणी से मिलती
भिन्न स्थानों पर कृषि, ह
प्रदर्शनियाँ भी लगती हैं
तथा बच्चों की ज्ञान-वृद्धि
लाभ उठाना चाहिए।
जैसे–चिड़ियाघर, रेल,
तथा अन्य संग्रहालयों में
चाहिए।

कई बार एक ही परिवा
भिन्न प्रकार की रुचि
हो जाते हैं। कहीं यु
माता-पिता रहते हैं अ
यह युवा, पढ़ा-लिखा
या रूढ़िवादी रीति-रि
चाहता कि इस प्रका
विश्वास करने वाले
के संबंधी उनके बच्
अतः वहां तीन पीढ़ि
बच्चे के मन पर अच्छ
पीढ़ी के लोगों को
अतः युवा दम्पति क
कुछ सलीके से (
करना चाहिए।
नानी का सुकोमल
पालन मिल सकता
भिन्न धारणाओं के

कई माता-पिता भ
उपरान्त प्रायः बच्च
या आया पर छोड़
रहते हैं या बच्चों क
हैं कि वे अपना

नहीं करने चाहिए।

आजकल विज्ञान के अनेकानेक नये प्रयोग हो रहे हैं तथा ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी वृद्धि हो रही है। इस प्रकार की जानकारी, जैसे–अन्तरिक्ष-यान द्वारा चन्द्र पर मनुष्य का पहुंचना, समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं, दूरदर्शन या आकाशवाणी से मिलती रहती है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न स्थानों पर कृषि, हस्तकला, स्वास्थ्य-रक्षा आदि की प्रदर्शनियाँ भी लगती हैं। अतः माता-पिता को अपनी तथा बच्चों की ज्ञान-वृद्धि के लिये ऐसे अवसरों का अवश्य लाभ उठाना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्थायी स्थानों, जैसे–चिड़ियाघर, रेल, गुड़िया, प्राकृतिक, ऐतिहासिक तथा अन्य संग्रहालयों में स्वयं अपने बच्चों को लेकर जाना चाहिए।

कई बार एक ही परिवार में पीढ़ी का अन्तर होने से भिन्न-भिन्न प्रकार की रुचियां, विचार तथा दृष्टिकोण प्रकट हो जाते हैं। कहीं युवा पति-पत्नी के साथ उनके वृद्ध माता-पिता रहते हैं और कहीं कोई अन्य संबंधी। अब यह युवा, पढ़ा-लिखा दम्पति कई पुराने भूत-प्रेत संबंधी या रूढ़िवादी रीति-रिवाजों को नहीं मानता और वह नहीं चाहता कि इस प्रकार की कपोल-कल्पित धारणाओं में विश्वास करने वाले उसके पिछली और पिछड़ी पीढ़ी के संबंधी उनके बच्चों के मन में ऐसी बातें बिठाएं। अतः वहां तीन पीढ़ियों के बीच विवाद रहता है, जिसका बच्चे के मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। अब पुरानी पीढ़ी के लोगों को बदलना तो प्रायः असंभव होता है, अतः यवा दम्पति को बिना लम्बे-चौड़े विवादों में पड़े, कुछ सलीके से (tactfully) समस्या का समाधान करना चाहिए। जहाँ पर वृद्ध दादा-दादी या नाना-नानी का सुकोमल बच्चों को अथाह प्यार या लालन-पालन मिल सकता है, वहां पर धीरे-धीरे बच्चे को भिन्न धारणाओं के बारे में समझाया जा सकता है।

कई माता-पिता भलीभांति शिक्षित तथा समृद्ध होने के उपरान्त प्रायः बच्चों की देखरेख केवल अपनी नौकरानी या आया पर छोड़ देते हैं। वे स्वयं या तो इतने व्यस्त रहते हैं या बच्चों को अपनी निजी जीवन में बाधा समझते हैं कि वे अपना पूरा वात्सल्य तथा स्नेह बच्चों को दे ही नहीं पाते, जिस से बच्चे काफी तिरस्कृत से रह जाते हैं और जो अच्छी-बुरी बातें आया बताती है या करती है, वही सीख जाते हैं। बिना माता-पिता की पूरी रुचि तथा स्नेह के बच्चे में कई प्रकार की विकृतियाँ (complex) पैदा हो जाती हैं, अतः बच्चों के प्रति इस प्रकार के व्यवहार को बदलना आवश्यक है।

कई माता-पिता तथा परिवार के अन्य बड़े सदस्य बात-बात पर बच्चों को झिड़कते, डांटते रहते हैं। बच्चे की हर प्रकार की स्वप्रेरणा (initiative) की टीका-टिप्पणी होती रहती है। परिणामस्वरूप बच्चा हर प्रकार से तिरस्कृत तथा निरुत्साहित हो जाता है और उसमें स्वप्रेरित पग (initiative) लेने की भावना कम होती है। इस के विपरीत जैसे माँ घुटनों के बल चलने वाले बच्चे के हाथ पकड़ कर उसे धीरे-धीरे चलना सिखाती है, वैसे ही माँ-बाप को बच्चे के हर नये प्रयास का उत्साहपूर्वक स्वागत करना चाहिए और उस में काफी रुचि लेनी चाहिए।

बच्चे के अन्दर सूझ-बूझ तथा तर्क की प्रचुर क्षमता होती है, किन्तु प्रायः अनभिज्ञ माता-पिता हर बात बच्चे को मार-पीट द्वारा समझाना चाहते हैं। शिष्टाचार या सदाचार का पाठ बच्चे को बड़े प्रेम से अच्छे-अच्छे उदाहरण देकर भी सिखाया जा सकता है। किन्तु बहुत छोटे बच्चे को किसी सभा समारोह में ले जाना और फिर उससे घंटों चुपचाप बैठे रहने की अपेक्षा करना और बच्चे के उछल-कूद करने पर मारपीट करना, बहुत से लोगों का स्वभाव है। बच्चे का नटखट होना या भागदौड़ करना उसके व्यक्तित्व के विकास का एक आवश्यक अंग है और किसी सभा या बैठक में या तो छोटे बच्चों को लेकर जाना ही नहीं चाहिए या फिर पड़ोस के आंगन या उद्यान में और बच्चों के साथ उन्हें खुल कर खेलने देना चाहिए। बहुत मारपीट करके और बच्चों को अपनी बात खुलकर कहने का अवसर न देकर माता-पिता एक प्रकार से बच्चे पर अत्याचार करते हैं और बच्चा स्वभाव से विद्रोही होने लगता है तथा कई बार जब घर का वातावरण उसके लिये बहुत भारी और प्रतिकूल हो जाता है तो वह घर से भागने का प्रयास करता है और बहुधा भाग कर बुरी संगति में जा पड़ता है। वह बच्चा, जो स्नेह,

प्रेम और प्रोत्साहन का भूखा होता है, इन सब से वंचित रहकर समाज का बिगड़ा हुआ तत्त्व (anti social element) बन जाता है।

किसी समय यह सोचा जाता था कि केवल डण्डे से ही बच्चा सुधारा जा सकता है (अंग्रेजी में कहावत है 'spare the rod and spoil the child')।

इस प्रकार क्या घर और क्या पाठशाला, सभी ओर बच्चे की पिटाई का सामान तैयार रहता था, ऊपर से गणित आदि के रूखे-सूखे पहाड़े तथा आंकड़े बलात् बच्चे के मस्तिष्क में घुसेड़ने का प्रयत्न होता था। परिणामस्वरूप डर के वातावरण में बच्चा घर व पाठशाला दोनों से भागना चाहता था। इसके विपरीत अब मनोविज्ञान के भिन्न-भिन्न प्रयोग किये गये हैं और बच्चे को सिखाने की इतनी रुचिकर शैलियाँ हैं कि बच्चा अब खेल-खेल में ही सब कुछ सीख जाता है। अतः माता-पिता को बहुत ही कम अवसरों पर, जब बच्चा हर प्रकार समझाने-बुझाने से न माने, तब कुछ हल्की सी मार करनी चाहिए और उसके अच्छा व्यवहार करते ही फिर उससे स्नेह-प्रेम भी करना चाहिए ताकि बच्चे में विरोधी या विद्रोह की भावना न आये और वह समझे कि माता-पिता उस के सदा इष्ट-मित्र हैं, हां थोड़ी सी पिटाई तो उसके लाभ के लिये है।

कभी-कभी बच्चे को कोई विशेष बात सिखाने के लिये माता-पिता आपस में ही उलझ पड़ते हैं। पिता थोड़ा कठोरता से अनुशासन लाना चाहते हैं तो बच्चे को बचाने के लिये माता बीच में खड़ी हो जाती है और पत्नी तथा पति एक-दूसरे को ही भला-बुरा कहने लगते हैं, जिससे बच्चे के मन पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसी स्थिति में पति-पत्नी को अकेले ही पहले आपस में अच्छी प्रकार विचार-विमर्श कर लेना चाहिए और जब उन में से कोई एक बच्चे को थोड़ी ताड़ना देना चाहे तो दूसरे को उस का समर्थन करना चाहिए ताकि बच्चे को अनुचित राय न मिलकर यह लगे कि वह गलत काम करता है, जिसके कारण उस के माता-पिता उससे थोड़ी कठोरता करते हैं।

आत्म-सम्मान तथा अहंकार छोटे-बड़े सभी में होता है। कभी-कभी माता या पिता बच्चे के सामने कोई मिथ्या धारणा या गलत जिद ले लेते हैं और फिर बच्चे की धारणा उचित होते हुए भी परिवार में अपने ऊंचे स्थान के कारण अपनी भूल को स्वीकार नहीं करना चाहते। उस से बच्चा डर कर चुप तो हो जाता है, किन्तु उस के हृदय में माता या पिता का आदर नहीं बनता। ऐसी स्थिति में यदि माता या पिता कभी बच्चे के समक्ष अपनी भूल भी मान लें तो इस में कोई बुराई नहीं। इस में व्यर्थ के झूठे अहंकार का स्थान नहीं होना चाहिए।

जितना आत्म-सम्मान माता-पिता को अपने लिये प्यारा है, उतना ही बच्चे को भी। बच्चे में आत्मग्लानि या हीन भावना न आये, इसके लिये उसे समय-समय पर प्रशंसा का पात्र बनाते रहना चाहिए। यदि वह कोई भी नयी बात करता है या और मौलिक खेल खेलता है तो उस की प्रोत्साहना करनी चाहिए। किन्तु यदि वह कोई भौंडी शरारत या हरकत करता है तो उस को डांटना आवश्यक है। उस के आत्म-सम्मान पर ठेस न लगे, इसके लिये बच्चे को सबके सामने डांटना या मारना-पीटना नहीं चाहिए ताकि उस के सहयोगी या मित्र उस के बारे में यह सब नहीं जानें और उसे न चिढ़ायें। जहां तक हो सके, अकेले में उसे समझाना-बुझाना चाहिए, अकेले में ही ताड़ना चाहिए। इस ओर विशेष ध्यान की आवश्यकता है।

जिन माता-पिता के दो या अधिक बच्चे होते हैं, उन्हें सभी बच्चों की यथेष्ट शिक्षा के भिन्न-भिन्न प्रयास करने चाहिए। जहां एक छोटे बच्चे की बड़ी बहन या भाई होता है, वहां बड़े बच्चे यदि समय पर हर काम करते हैं—क्या खेलना, क्या पढ़ना-लिखना, तो इस का छोटे बच्चे की शिक्षा पर बहुत अच्छा प्रभाव होता है। माता-पिता को यह देखना चाहिए कि बड़ा बच्चा न केवल अपनी पढ़ाई-लिखाई या अन्य क्रियों में रुचि ले, वरन् वह छोटे बच्चे को तरह-तरह के खिलौनों से या कहानियों से बहलाता भी रहे। हर बच्चे में नकल करने की वृत्ति असीमित होती है। जैसा व्यवहार मां-बाप करेंगे, वैसी नकल पहला बच्चा करेगा और जो बड़ा बच्चा करता है, उस की नकल छोटा बच्चा करेगा। अतः माता-पिता अपने बच्चों के बीच कोई कुसंस्कार न पनपायें। वे

एक दूसरे के साथ लड़ते-झगड़ते न रहें और शिकायतें न करते रहें, इसकी ओर ध्यान देना चाहिए।

जब परिवार में पहले एक ही बच्चा होता है तो सभी उस की ओर विशेष ध्यान देते हैं। यदि वह अकेला प्राणी बालक है तब तो परिवार को—विशेष कर माता-पिता को उस के लालन-पालन में विशेष आत्मसंतुष्टि होती है। हां, पहली लड़की होने पर कहीं-कहीं कुछ उनके व्यवहार में कमी रहती है, जो सामाजिक मिथ्या धारणाओं के कारण है। आज के समाज में लड़का अथवा लड़की—दोनों का एक दूसरे से बढ़कर भाग है, अतः माता-पिता को लड़की की शिक्षा-प्राप्ति में पूरी रुचि तथा सहयोग देना चाहिए। आगे चल कर यही लड़की अपने छोटे-भाई की देखभाल बड़ी अच्छी तरह से कर सकती है।

हर बच्चा स्वभाव से हर वस्तु अपने लिये ही चाहता है और यदि कोई दूसरा उसकी किसी वस्तु को हाथ लगाये तो वह आकाश सिर पर उठा लेता है। जब तक वह अपने मां-बाप का इकलौता चहेता है, वह उन पर भी अपना पूरा अधिकार जमाता है, अतः दूसरे बच्चे के आने पर उसमें कुछ ईर्ष्या-द्वेष की भावना पैदा होना स्वाभाविक है, विशेष कर जब सब छोटे को ही पुचकारते हैं, सहलाते हैं, लाड़-प्यार करते हैं। बड़े से कोई काम उल्टा हो जाये तो झट उसकी पिटाई हो जाती है, जबकि छोटा सब कुछ उल्टा कर दे, तो भी उसे नासमझ कह कर कोई उसे कुछ नहीं कहता। हर नया खिलौना या कपड़ा छोटे के लिये तो अवश्य खरीदा जायेगा, जब कि बड़े का पुराने खिलौने या पुराने कपड़ों से ही काम चलाया जायेगा। ऐसी स्थिति में बड़े में हीन भावना या तिरस्कार भावना का पैदा होना उसके शरीर तथा मन के स्वस्थ विकास में बाधक बनता है।

माता-पिता को दूसरे बच्चे के पैदा होते समय ही बड़े में नवागन्तक के लिये अच्छे-अच्छे अपनत्व के भाव जगाने चाहिए। जैसे—"देख बेटे, अभी तक तू अकेला ही मन बहलाने के लिये दूसरों के घर में उनके बच्चों से खेलता था, अब तो तेरा अपना भैय्या (या बहन) तेरे लिये ही इस घर में आने वाला है (या हम ले आये हैं)। अब इस का पूरा ध्यान रखना और इसके साथ खेलना" इत्यादि। इस प्रकार बच्चे के अन्दर छोटे के लिये द्वेष के स्थान पर स्नेह-भावना पैदा होती है और दोनों मिल-जुल कर एक दूसरे की शिक्षा-दीक्षा में सहायक होते हैं। धीरे-धीरे वे एक दूसरे के साथ इतना घुल-मिल जाते हैं कि एक के घर में न होने पर दूसरा उस का अभाव अनुभव करता है। पहले तो बच्चा जब घर में अकेला था तो किसी को अपनी वस्तु छूने नहीं देता था, अब वह हर वस्तु छोटे-भाई या बहन के आगे रख देता है और दोनों मिल-बांट कर खाते-पीते तथा खेलते-खेलाते हैं।

परिवार में अन्य व्यक्तियों का योगदान

माता-पिता के संस्कारों से बच्चे की प्रारम्भिक वास्तविक शिक्षा तो होती है, परिवार में यदा-कदा आने वाले अन्य सगे-संबंधियों तथा इष्ट-मित्रों का भी योगदान होता है। छोटा बच्चा उसके चारों ओर होने वाली हर गति-विधि को, घटना को अच्छी तरह देखने-भालने का यत्न करता है। सब से पहले उसे अपने माता-पिता की पहचान होती है। फिर उसे कोई अन्य भाई-बहन तथा दादा-दादी आदि स्थायी रूप से परिवार में रहने वाले संबंधियों का परिचय होता है। इसके साथ ही संबंधियों, अड़ोसी-पड़ोसी या माता-पिता के इष्ट-मित्रों में से किसी को वह 'चाचा' के रूप में जानता है तो किसी को चाची या मौसी के रूप में, कोई उसका पड़ोसी भैया है तो कोई दीदी। ये सब लोग बच्चे से तरह-तरह की बातें करके या हाव-भावों से उसे नयी-नयी बातें सिखाने का प्रयत्न करते हैं।

इसलिये हर माता-पिता को परिवार में आने वाले सज्जन मित्रों से बच्चों का भी परिचय कराना चाहिए और बच्चों को अपनी नयी-नयी प्राप्तियों का प्रदर्शन कर इन इष्ट-मित्रों से भी प्रशंसा प्राप्त करने का अवसर देना चाहिए। इससे बच्चे के सोचने समझने का क्षेत्र और बड़ा होता है। किन्तु माता-पिता को इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि घर का कोई नौकर-चाकर या कोई अशिक्षित पड़ोसिन बच्चे को गलत बातें न सिखाये। कुछ रूढ़िवादी परिवार तो बच्चे के माथे पर काला टीका लगाकर रखते हैं और किसी की बुरी दृष्टि लगने के डर से उसे किसी से मिलाते ही नहीं। किन्तु माता-पिता को विवेक का प्रयोग

कर व्यर्थ का सन्देह नहीं करना चाहिए, बल्कि बच्चे को खुलकर उठने-बैठने का अवसर देना चाहिए।

बच्चे की शिक्षा पर वातावरण का प्रभाव

परिवार के बाद बच्चे की शिक्षा पर उसके वातावरण का विशेष प्रभाव होता है। इस वातावरण में बच्चे के अड़ोसी-पड़ोसी, छोटे-बड़े नौकर-चाकर, खेलकूद का सामान, मैदान, रेडियो, दूरदर्शन, गली बाजार, नाटक, सिनेमा आदि सभी सम्मिलित हैं। अच्छे वातावरण तथा संस्कारों में बच्चा अच्छा बनता है तथा बुरे वातावरण से बुरा। कभी-कभी जब किसी अच्छे खाते-पीते पढ़े-लिखे परिवार का बच्चा किसी चोरी-चकारी या अन्य अपराध में पकड़ा जाता है तो सब को बड़ा आश्चर्य होता है कि यह कैसे हो सकता है। किन्तु यदि सारी स्थिति का बारीकी से अन्वेषण किया जाय तो कहीं न कहीं, किसी न किसी के द्वारा अपराधी बनने के कुसंस्कार अवश्य पड़े होंगे, जिसका उसके माता-पिता को ज्ञान न होगा या लापरवाही की होगी। अतः किसी भी बच्चे की अच्छी शिक्षा के लिये उसके वातावरण पर ध्यान देना आवश्यक है और माता-पिता का यह कर्तव्य है कि वे बच्चे को दूषित वातावरण से, कुसंस्कारों से बचा कर रखें।

बच्चा पास-पड़ोस के घरों में तो जायेगा ही, अतः पड़ोसी बच्चों के बारे में भी माता-पिता को पता रहना चाहिए और यथासंभव बच्चे को अच्छे बच्चों वाले परिवार में ही भेजना चाहिए। जब पड़ोसी बच्चे इधर-उधर खेलते हैं, अपने बच्चे में इस प्रकार का विवेक जगाते रहना चाहिए कि वह बुरी संगति में न फंसे।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी जहाँ अपने घर में सुन्दर स्वच्छ वातावरण या खाना-पीना होना चाहिए, वहाँ बाहर भी बच्चे को इसी प्रकार की आदतें डालनी चाहिए। इधर-उधर गली बाजार में गन्दी वस्तुएं न खाने-पीने का स्वभाव बच्चे को डालना चाहिए। पास-पड़ोस के किसी खुले मैदान में बच्चे को प्रातः या सायं खेलने की या दौड़ लगाने की आदत डालनी चाहिए। किन्तु वह किन बच्चों के साथ मैदान में खेलता है, इस का ध्यान अवश्य रखना चाहिए। बच्चे को तर्कपूर्वक समझाना चाहिए कि घर पर बनी अच्छी शाक-भाजी या दाल-रोटी बाहर के छाबे वाले की गन्दी मन्दी, मक्खियों,मच्छरों तथा धूल-मिट्टी से दूषित वस्तुओं से कहीं अच्छी हैं। जहां तक हो सके, बच्चे को दूध तथा फलों की आदत डालनी चाहिए।

आजकल प्रायः घरों में आकाशवाणी तथा दूरदर्शन का प्रभाव होता जा रहा है। परिणामस्वरूप बच्चों को इन से तरह-तरह की जानकारी मिल सकती है। किन्तु इन उपयंत्रों द्वारा कई कुसंस्कार, जैसे–फिल्मी गाने या चल-चित्र में कुछ अवाञ्छनीय दृश्य आदि कहीं बच्चे के मन पर बुरा प्रभाव न डालें, इस बात का ध्यान भी माता-पिता को रखना चाहिए। जब घर में रात्रि को दूरदर्शन का कार्यक्रम चल रहा होता है तो बच्चे का उस में आकर्षित होना स्वाभाविक है। अतः माता-पिता को पहले से ही समाचार-पत्र आदि द्वारा कार्यक्रम का विवरण देखकर बच्चे के लिये ज्ञानवर्धक कार्यक्रम लगाने चाहिए और बच्चे को भलीभांति समाज-व्यवस्था, ऐतिहासिक दृश्य राजनीतिक गतिविधि, वैज्ञानिक खोजें, पशु-पक्षियों का संरक्षण, स्वास्थ्य-रक्षा, प्राकृतिक सौन्दर्य में वृक्षों, फल-फूलों, पहाड़ियों, नदी-नालों के स्थान आदि-आदि से परिचित कराना चाहिए। कई बार देशी या विदेशी अच्छी फिल्में भी दिखायी जा सकती हैं। किन्तु यदि किसी कार्यक्रम में अत्यधिक हिंसा, चोरी, डकैती, अश्लीलता आदि हो और माता-पिता यदि देखना भी चाह रहे हों तो भी बच्चे की सुशिक्षा का ध्यान रखते हुए दूरदर्शन उपयंत्र को नहीं लगाना चाहिए। ऐसे ही आकाशवाणी में हर समय सब प्रकार के फिल्मी गाने या कोई ऐसा कार्यक्रम, जिससे बच्चे की शिक्षा पर बुरा प्रभाव पड़े, नहीं लगाना चाहिए। कई परिवारों में रेडियो या दूरदर्शन-उपयन्त्र सदा ही लगा रहता है, जिससे पर में माता-पिता या किसी अन्य बड़े व्यक्ति का मनोरंजन तो होता होगा और उसके बन्द हो जाने पर शान्ति या सन्नाटा भारी लगता होगा, किन्तु इससे बच्चों के पढ़ने-लिखने या शांतिमय वातावरण में काम करने का स्वभाव बिगड़ जाता है। अतः ऐसे उपयन्त्रों का प्रयोग बहुत कम और चयनात्मक होना चाहिए।

आजकल विज्ञान का युग है और विज्ञान केवल नये-नये

आविष्कारों या उपलब्धियों तक सीमित नहीं है, अपितु यह एक मानविक दृष्टिकोण को भी तैयार करता है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति हर बात का आंख-कान बन्द करके विश्वास नहीं कर लेता, प्रत्युत् अपनी विवेक-बुद्धि का प्रयोग कर तर्क तथा अनुभव की कसौटी पर परखना चाहता है। हर जटिल समस्या की तह पर जाकर उसको सुलझाने के उपाय खोजता है। आज के युग में जब तक भारतीय बच्चों में इस प्रकार की मनोवृत्ति को जागृत नहीं किया जायेगा, तब तक वे संसार के अन्य देशों के साथ वैज्ञानिक प्रगति में साथ नहीं दे सकेंगे। अतः जो कोई माध्यम उपलब्ध हो, उससे बच्चे में यह दृष्टिकोण अवश्य पैदा करना चाहिए। जैसे—बाग-बगीचे में तरह-तरह के फूलों की जानकारी, पक्षियों की आदतें, चिड़ियाघर में सब वन्य जीव-जन्तुओं के गुण-स्वभाव, किसी कल-कारखाने या प्रदर्शनी में चल रहे यंत्रों का प्रयोग आदि बच्चे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा करने में सहायक होते हैं।

जो माता-पिता नियमित रूप से किसी पूजागृह, मन्दिर-शिवालय में या अन्य अध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति के स्थान, जैसे—कोई गीता-प्रवचन, कथा-वार्ता, हवन-यज्ञ या अन्य पूजा-पद्धति के स्थान पर जाया करते हैं, उन्हें बच्चों को भी धीरे-धीरे साथ ले जाना चाहिए। इससे बच्चों के मन पर प्रारम्भ में ही अच्छे संस्कार पड़ते हैं और उनमें अध्यात्म या बौद्धिक ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा निर्मित होती है। उन्हें बचपन से ही धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने या सुनने का अवसर मिलता है, जो उन्हें अच्छे नागरिक बनने में बहुत सहायता करते हैं।

स्कूल आफ लेंग्वेजेज,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय,
नयी दिल्ली—११००६७,

पुस्तक-समीक्षा

राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ, लेखक—श्री नानाजी देशमुख; प्रकाशक : राजपाल एंड संज, दिल्ली; १९७९; पृष्ठ १६३; मूल्य ३०.०० रुपये।

प्रस्तुत पुस्तक में १० लेख हैं, इनके अतिरिक्त परिशिष्ट में चार महत्वपूर्ण पत्रों का समावेश है। भारत के विभाजन से लेकर अब तक संघ पर निरन्तर शरारतपूर्ण आक्षेप लगाये जाते रहे हैं। नानाजी संघ और जनसंघ के निष्ठावान् कार्यकर्त्ता रहे हैं। उन्होंने आपातकाल में भूमिगत आन्दोलन का सफल नेतृत्व किया था। वे श्री जयप्रकाश नारायण के भी दाहिने हाथ रहे हैं और जनता पार्टी के एक महासचिव भी हैं। सत्ता हथियाने अथवा आपातकाल के अपराधों की जिम्मेदारी और सजा से बचने के लिये अवसरवादी नेताओं द्वारा संघ के विरुद्ध फैलाये भ्रमजाल का खंडन नानाजी की लेखनी से ही हो सकता था।

पहले अध्याय में संघ-विरोधियों को चार खेमों में बाँटा गया है—१.(क) रूस-चीन से प्रेरणा लेने वाले कम्युनिस्ट, (ख) संघ की राष्ट्रीयता से भयभीत अमेरिका, २. सत्तालोलुप नेता, ३. भारत के अल्पसंख्यक, और ४. पश्चिमी संस्कृति से प्रभावित बुद्धिजीवी।

संघ पर आक्षेप लगाये जाते हैं—फासिस्टवादी, सुधार-विरोधी, उग्रराष्ट्रवादी, तानाशाही का समर्थक, गुप्त संगठनवादी, समाजवाद-विरोधी, अल्पसंख्यक-विरोधी, हिंसा का विश्वासी, हथियार-संग्रह कर उनके संचालन की शिक्षा देने वाला।

नानाजी ने इन आरोपों का जोरदार खंडन किया है। नाजियों का राष्ट्रवाद उग्रराष्ट्रवाद था। संघ का विश्वास सांस्कृतिक राष्ट्रवाद में है। फासिस्टवाद का अनुशासन भीषण था, वे लोग युद्धप्रिय थे और उनका कार्य प्रचार पर आधारित था। संघ का अनुशासन आत्मप्रेरणा और स्वेच्छा से है। संघ प्रचार से दूर रहता है। वह बिना शोर मचाये निष्काम भाव से कार्य करता है। 'इलस्ट्रेटेड वीकली' के सम्पादक ने भी स्वीकार किया है कि मोरवी की बाढ़ में संघ के स्वयंसेवकों ने फूली-सड़ती लाशों को उठाने का कठिन काम किया और इसके लिये वे फोटो खिचाने के लिये भी तैयार नहीं हुए।

बीस लाख स्वयंसेवक हजारों खुले स्थानों में एकत्र होते हैं, वे गुप्त संगठन के सदस्य कैसे कहे जा सकते हैं? कोई भी व्यक्ति जाकर उनके कार्यक्रम देख सकता है। संघ समतावादी दर्शन के रूप में समाजवाद का विरोधी नहीं है, वह उसके भौतिकवादी पहलू का विरोध करता है। संघ 'सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु' ....और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' में विश्वास करता है। संघ हिन्दुओं के लिये विशेष अधिकार नहीं चाहता और अल्पसंख्यकों को भी विशेष अधिकार या रियायतें देने के विरुद्ध है। वह अलगाव की प्रवृत्ति का विरोधी है। किसी भी जाँच रिपोर्ट में संघ को दंगे का दोषी नहीं बताया गया। १९७० तक २३ दंगे हुए, जिनमें से २२ के लिये अल्पसंख्यक जिम्मेदार थे। उ० प्र० शान्ति-सेना के संयोजक तथा गांधी शान्ति प्रतिष्ठान, आगरा के सचिव श्री कृष्ण चन्द्र का वक्तव्य 'अमर उजाला' में छपा था। उन्होंने लिखा है कि अलीगढ़-दादरी के दंगों में संघ का हाथ नहीं था। अलीगढ़ विश्वविद्यालय में एक ऐसा फंड है, जिसका उपयोग दंगा कराने में किया जाता है। अल्पसंख्यक आयोग के ईसाई, पारसी, बौद्ध और सिख प्रतिनिधियों ने दंगों में संघ का हाथ स्वीकार नहीं किया है। संघ स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मन के लिये लाठी का व्यायाम सिखाता है। विरोधी प्रचार करने वाले इसे हथियार-संग्रह अथवा हथियार-संचालन कहते हैं। 'न्यूयार्क टाइम्स' ने तत्कालीन गृह राज्यमंत्री श्री ओम मेहता के इसी प्रकार के आरोपों के प्रति लिखा था—लाठियों से ये लड़के दस लाख की सशस्त्र सेना, ८५ हजार के सीमा सुरक्षाबल, ५७ हजार केन्द्रीय सुरक्षा पुलिस और ७,५५,००० राज्य पुलिस के सिपाहियों के लिये कैसा खतरा उत्पन्न कर सकते हैं?'

दंगे के तथ्यों का पता लगाये बिना, जाँच आयोग के प्रति-

वेदन की प्रतीक्षा किये बिना संघ पर आरोप लगाकर उसे 'साम्प्रदायिक राक्षस' एवं अपराधी की भांति जनता के सामने लाया जाता है और उसे सदा ऐसी स्थिति में रखा जाता है कि वह अपनी सफाई देता फिरे और अन्त में उसे कुचला जा सके।

गान्धी जी के हत्यारों पर मुकदमा चला, उन्हें दंड दिया गया। न्यायालय के निर्णय में संघ की कहीं चर्चा तक न थी। श्री पटेल ने नेहरू जी को सूचित किया था कि गान्धी जी की हत्या में संघ का हाथ नहीं है। गांन्धी-हत्या के मामले की नये सिरे से जाँच के लिये कपूर आयोग बिठाया गया था। उसने भी संघ को निर्दोष पाया था। फिर भी स्वयंसेवकों की लाखों रुपयों की सम्पत्ति नष्ट की गयी, लाखों लोग जेल में डाल दिये गये।

लेखक ने संघ और जनसंघ को जे० पी० के आन्दोलन के सन्दर्भ में भी विवेचित किया हैं। बांगलादेश के उदय का सम्पूर्ण श्रेय स्वयं लेकर इन्दिरा गांधी ने १९७१ में लोकसभा का मध्यावधि चुनाव कराकर पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लिया था। इनकी तानाशाही का विरोध गुजरात से आरम्भ हुआ। बिहार में भी असन्तोष की लहर दौड़ गयी। जे० पी० ने समग्र क्रान्ति का शंख फूंक दिया। १२ जून, ७५ को गुजरात विधानसभा में जनता मोर्चा की विजय हुई और उसी दिन हलाहाबाद हाई कोर्ट ने इन्दिरा के विरुद्ध निर्णय दिया। त्यागपत्र देने के स्थान पर इन्दिरा ने भाड़े के प्रदर्शनकारी बुलाकर सत्ता पर अनैतिक रूप से जमे रहने का प्रयास किया। बढ़ते हुए जनरोष को देखते हुए २५ जून, १९७५ को आपातकाल की घोषणा करा दी गयी और हजारों लोग बन्दी बना लिये गये। लेखक ने संक्षेप में प्रकाश डाला है कि किस प्रकार असंख्य संघ-स्वयंसेवक बन्दी बनाये गये, संघ प्रतिबन्धित किया गया और आपातकाल के काले शासन के विरुद्ध कैसे संघ ने सत्याग्रह तथा भूमिगत आन्दोलन किया। 'भालोद' की ओर से सात जत्थों ने सत्याग्रह में भाग लिया, पहले जत्थे में ४७ तथा शेष में २५ या इससे भी कम लोग जेल गये। समाजवादियों की ओर से १५० से २०० लोगों ने सत्याग्रह किया। सी० पी० आई० एम० ने २५,००० का वादा किया था, किन्तु वह १००० से भी कम लोगों को सत्याग्रह के लिये तैयार कर सका।

लेखक की सूचना के अनुसार डेढ़ लाख लोगों ने सत्याग्रह किया, इनमें एक लाख छत्तीस हजार संघ-जनसंघ के सदस्य थे। संघ-जनसंघ ने ७००० महिलाएं भी जेल भेजीं। अन्य दलों से नाममात्र के लिये ही महिलाएं गयीं।

दोहरी सदस्यता का बहाना कर एक अच्छे खासे दल को भीतर से तोड़कर चौधरी चरणसिंह ने "अपने जीवन की तमन्ना पूरी" की। इस सन्दर्भ में भी लेखक ने प्रकाश डाला है। चौधरी साहब लगभग आधे दर्जन बार दल-बदल कर चुके हैं। १९६७ में ही इन्होंने दलबदल कर मुख्यमंत्री बनने की इच्छा नानाजी के समक्ष प्रकट की थी। जाति-बिरादरी के मतों के आधार पर ये अपनी महत्वाकांक्षा पूरी करना चाहते रहे हैं। जनता पार्टी के गठन में इन्होंने कई बाधाएं प्रस्तुत कीं। कभी पार्टी का अध्यक्ष बनना चाहा तो कभी प्रधानमंत्री। टिकट बाँटने का काम मिला तो सबके प्रति न्यायदृष्टि नहीं दिखायी। जब विधानसभा की सीटों के टिकट बाँटने का काम नहीं दिया गया तो जनता पार्टी का चुनाव चिह्न ही छीन लेना चाहा। देसाई जी को गिराने के लिये कम्युनिस्टों की सहायता करते रहे। देसाई जी से जो पत्र-व्यवहार हुआ, बिना उनकी सम्मति लिये समाचार-पत्रों में छपा दिया। देसाई सरकार को नपुंसकों और भ्रष्ट लोगों का दल बताया और फिर उसी सरकार के वित्तमंत्री बने। हेमवतीनन्दन बहुगुणा को रूसी एजेंट कहते रहे और स्वयं प्रधानमंत्री बनने पर उन्हें वित्तमंत्री बनाकर देश का खजाना ही सौंप दिया। इन्दिरा के विरुद्ध न्यूरेमबर्ग जैसा मुकदमा चलाना चाहते थे, उन्हीं इन्दिरा का सहयोग माँगकर प्रधानमंत्री बने। जनसंघ से आये सांसदों पर दुहरी सदस्यता का आरोप लगवाते रहे और स्वयं किसान-सम्मलन कर राज्य-सरकारों की सहायता से एक करोड़ रुपये एकत्र किये। जिसने सहयोग नहीं दिया, उसे राज्य के मंत्रिमडल से निकलवा दिया। एक ओर संघ-जनसंघ पर आक्षेप कराते रहे, दूसरी ओर देवरस जी से सहयोग माँगते रहे। गांधी जी की समाधि पर की गयी अपनी प्रतिज्ञा तो झुठला ही दी, १५ अगस्त को लालकिले की दीवार से अपनी यह

घोषणा भी झुठला दी कि लोकसभा के मध्यावधि चुनाव नहीं कराये जायेंगे, क्योंकि इससे जनता पर बोझ बढ़ेगा।

संघ और जनसंघ से संबंधित लोग जनता पार्टी की एकता और अनुशासन के लिये निरन्तर हानि सहते रहे, यह उनकी ध्येय-निष्ठा ही थी।

पुस्तक के अध्यायों में कुछ और भी तालमेल अपेक्षित था। कहीं-कहीं पुनरुक्तियाँ हो गयी हैं। नानाजी की यह प्रथम पुस्तक है, यह देखते हुए ये कतिपय त्रुटियाँ क्षम्य हैं। वे कुशल संगठनकर्त्ता और राष्ट्र को समर्पित राजनीतिज्ञ हैं। निर्माण-कार्य के अत्यंत व्यस्त क्षणों के मध्य समय निकाल कर वे लिख सके तथा संघ के विरुद्ध फैलाये गये भ्रमजाल को ध्वस्त कर सके, इसके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं। संघ प्रचार-अपप्रचार की चिन्ता न कर अपने निर्माण-कार्य में जुटा रहता है। वह प्रचार की ओर ध्यान नहीं देता, किन्तु युग की माँग है कि संघ का सही परिचय देने वाली और भी पुस्तकें लिखी जायें।

पुस्तक की आकर्षक साज-सज्जा और छपाई तथा अच्छे कागज के प्रयोग को देखते हुए मूल्य ३० रु० अधिक नहीं है, परन्तु जनसामान्य द्वारा खरीदे जाने के लिये इसका जेबी संस्करण भी निकाला जाना चाहिए था।

—डा० रमानाथ त्रिपाठी
हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

□

अनुपम जीवन बीमा सुविधा

5 वर्षीय आवर्ती जमा योजना का एक अतिरिक्त आकर्षण

अगर जमाकर्ता की 5 वर्ष की अवधि से पहले मृत्यु हो जाती है तो नामांकित व्यक्ति अथवा कानूनी उत्तराधिकारी को कुछेक शर्तों के अनुसार पूरी परिपक्व राशि मिल जाती है।

राष्ट्रीय बचत संगठन की और भी सुविधाएं

- ☑ आपके घर से हर महीने पैसा इकट्ठा कर लिया जाएगा।
- ☐ आयकर और धनकर सम्बन्धी लाभ।
- ☐ बदली, नामांकन और परिचय पत्र।
- ☐ 5 रु. से भी खाता खोल सकते हैं।

अधिक जानकारी के लिए पास के डाकघरों में जाएं।

राष्ट्रीय बचत संगठन

davp 79/198

इन गतिविधियों में हमारे साथ सम्मिलित होइए

□ शोध

- राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय जीवन के सभी पक्षों में गहन एवं विस्तृत शोध-कार्य आयोजित करना
- अध्येताओं को अनुसन्धान-सुविधाएं प्रदान करना
- शोध एवं सन्दर्भ पुस्तकालय का संधारण

□ प्रकाशन

- 'मंथन' त्रैमासिक (हिन्दी और अंग्रेजी) का प्रकाशन एवं प्रसारण
- हिन्दी और अंग्रेजी में पुस्तकें एवं अध्ययन-पत्र प्रकाशित करना

□ सामाजिक कार्य

- एकात्मक ग्रामीण पुनर्निर्माण—आदर्श जिलों का विकास
- बाढ़, तूफान एवं सूखा सहायता-कार्य
- भैषज व्रतसन्धान एवं भैषज कोष-संवर्धन

अधिक विवरणों के लिये सम्पर्क करें :

दीनदयाल शोध संस्थान,
स्वामी रामतीर्थ नगर,
नयी दिल्ली-११००५५

दूरभाष : ५२६७३५ ५२६७९२

(समाचार पत्र-पंजीयक, भारत, नयी दिल्ली) पंजीयन संख्या आर० एम०—१३२४८६/७८

DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE'S

Latest Publication

"THE INDIAN SPIRIT"

by SHRI M.P. PANDIT

- A Book that gives an insight into the true Indian Spirit
- Covers series of five lectures delivered by Shri M.P. Pandit of Aurobindo Ashram, Pondicherry at the Deendayal Research Institute, New Delhi
- The subjects of the lectures are :-

1. Fundamentals of Indian Culture
2. India's Contribution to the World — Present & Future
3. Towards Socio-Political Reconstruction of India
4. The Time-Spirit
5. The Destiny of Man

- Price : Rs 12.00; $4.00; £ 2.00

SPECIAL DISCOUNT OFFER

- 20% discount on individual purchases plus free packing and postage
- 25% discount for Agents on purchase of five copies or more plus free packing and postage.

Place orders till offers open

For further details contact:

THE PUBLICATION DIVISION,
DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE,
7E, SWAMI RAMTIRTH NAGAR,
NEW DELHI-110055.

दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली-११००५५ के लिये पी० परमेश्वरन (निदेशक, दी० शो० सं०) द्वारा सम्पादित, प्रकाशित व मुद्रित। नवचेतन प्रेस (प्रा०) लि० द्वारा नवजीवन प्रिण्टर्स, 1 ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन, नयी दिल्ली-११००५५में मुद्रित।